अम्बादास चवरे दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला-२

# सावयधम्मदोहा

भूमिका, अनुवाद, शब्दकोश, टिप्पनी आदि सहित

सम्पादक

हीरालाल जैन, एम. ए., एल एल. बी.,
संस्कृताध्यापक, किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती;
भूतपूर्व रिसर्च स्कालर, अलाहाबाद यूनीवर्सिटी.

वीर निर्वाण संवत् २४५८ ] [ विक्रम संवत् १९८९

THE

AMBADAS CHAWARE

DIGAMBARA JAINA GRANTHAMALA

OR

# Karanja Jaina Series

Edited–

*With the Cooperation of Various scholars*

By—

Hiralal Jain, M. A., L L. B.,
King Edward College, Amraoti.

**Volume II.**

Published by—

*Karanja Jaina Publication Society,*
*Karanja*, Berar, India.

# Savayadhammadoha

**An Apabhramsa work of the 10th century.**

Critically edited

*With Introduction, Translation, Glossary, Notes and Index*

By

**Hiralal Jain**, M. A., L L. B.,
Asstt. Professor of Sanskrit,
King Edward College, Amraoti;
Sometime Research Scholar, Allahabad University.

**1932.**

एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ ।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥७६॥

# प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ के दर्शन प्रथम वार मुझे सन् १९२४ में कारंजा के सेनगण भण्डार में हुए थे और उस प्रति पर से इस ग्रन्थ का परिचय सन् १९२६ में प्रकाशित Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss. in C. P. & Berar में दिया गया था। उस परिचय से कई विद्वानों का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर आकर्षित हुआ और उसे प्रकाशित कराने के लिये मुझ पर आग्रह होने लगा। किन्तु एक ही प्रति परसे इस का सम्पादन करने का मुझे साहस नही हुआ, इससे ठहरना पड़ा। अगले वर्ष इस ग्रन्थमाला की नींव डाली गई और तबसे ग्रन्थ की अन्य पोथियों की खोज में विशेषरूप से प्रयत्नशील होना पड़ा। सन् १९३० में हिन्दुस्तानी एकाडेमी, यू. पी., के अध्यक्ष श्रीयुक्त डॉ. ताराचन्द्रजी एम.ए., डी. फिल., ने इस ग्रन्थ को देखने की इच्छा प्रकट की। किन्तु उस समय तक हमारे हाथ में इसकी उपर्युक्त एक ही वही प्रति थी और उसकी प्रथम कापी तैयार की जा रही थी इससे वह भेजी नही जा सकी। धीरे धीरे अन्य प्रतियों का पता चला और उसी अनुसार इसका संशोधन होता गया। अबतक हमें इसकी ग्यारह पोथियों का पता चला है जिनका परिचय 'संशोधन सामग्री' में कराया गया है।

पहले हमारा विचार ग्रन्थमाला के अन्य ग्रन्थों के सदृश इसका सम्पादन भी अंग्रेजी में करने का था। किन्तु अनेक मित्रों व ग्रंथमाला के सहायकों का आग्रह हुआ कि अपभ्रंश भाषा के कुछ ग्रन्थ हिन्दी में भी सम्पादित होना चाहिये ता कि हिन्दी संसार में उक्त दोनों भाषाओं का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से झलक जावे। तदनुसार इस ग्रन्थ का सम्पादन हिन्दी में करने का निश्चय हुआ। आगे प्रकाशित होने वाले ग्रन्थों में भी अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में सम्पादन करने का विचार है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में हमे हमारे मित्र श्रीयुक्त ए.एन.उपाध्ये एम. ए., अर्धमागधी प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापूर, से बहुत सहायता मिली है। उन्होंने द. प्रति प्राप्त होने के पूर्व मुझे उस प्रति की अपने लिये कराई हुई एक कापी देखने के लिये भेजने की कृपा की तथा पत्रों द्वारा भण्डारकर इन्स्टीट्यूट् पूना, की तीन पोथियोंका परिचय कराया। सन् १९३१ के Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute में आपका 'Joindu and his Apabhramsa Works' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। हमने उस लेख से भी सहायता ली है। ग्रन्थ के कुछ शंकास्पद वाक्यों को हमने आपके पास विचार के लिये भेजा था उनपर भी आपने पत्र द्वारा मत प्रकट करने की कृपा की। इसका हमने टिप्पनी में उपयोग किया है। इस सब सहायता के लिये हम आपका बहुत उपकार मानते हैं।

हमारे मित्र डाक्टर पी. एल. वैद्य, एम्. ए., डी. लिट्., प्रोफेसर, वाडिया कालेज, पूना, ने भण्डारकर इंस्टीट्यूट, पूना, की भ. प्रति हमारे अवलोकनार्थ भिजवाने की कृपा की। तदर्थ हम आपका आभार मानते हैं।

श्रीयुक्त पन्नालालजी अग्रवाल, सहायक मंत्री, जैनमित्रमण्डल दिल्ली, व श्रीयुक्त महेन्द्रजी, सम्पादक 'वीरसन्देश' आगरा, ने हमें क्रमशः द. और अ. प्रतियां भिजवाने की कृपा की। इसके लिये हम आपके कृतज्ञ हैं।

सुहृद्वर डॉ. ताराचन्द्जी गंगवाल, एम. बी. बी. एस., पेलेस सर्जन, जयपुर, व श्रद्धेय मास्टर मोतीलालजी संघी, संस्थापक, सन्मति पुस्तकालय, जयपुर,ने हमें जयपुर की पोथियां देखने में बड़ी सहायता पहुंचाई। एतदर्थ हम आपके आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के सम्पादन व ग्रन्थकर्ता का निर्णय करने में हमें क. प्रति से विशेष सहायता मिली है। इस प्रति के लिये हम भट्टारक महाराज श्री वीरसेनजी स्वामी, सेन गण, कारंजा के ऋणी हैं। इस ग्रन्थ-

माला को सफल बनाने में आप बहुत कुछ कारणीभूत हुए हैं जैसा कि हम प्रथम ग्रंथ की प्रस्तावना में कह चुके हैं।

मान्यवर गोपाल अम्बादासजी चवरे, कारंजा, इस ग्रन्थ-माला के जीवनाधार हैं। आपकी प्राचीन जैन साहित्य को उत्तम ढंग से प्रकाशित देखने की बड़ी उत्कण्ठा हैं। आपकी ही प्रेरणा से हमें इस कार्य में विशेष उत्साह हुआ है। आपका उपकार चिरस्मरणीय है।

सरस्वती प्रेस, अमरावती, के मैनेजर श्रीयुक्त टी. एम. पाटील तथा प्रेस के अन्य कर्मचारियों ने इस ग्रन्थ को छापने में बड़ी रुचि और सावधानी दिखाई है इसके लिये मैं उन्हे हृदय से धन्यवाद देता हूं।

इस ग्रन्थमाला का प्रधान उद्देश्य प्राचीन जैन साहित्य को इस ढंग से प्रकाशित करने का है कि जिससे साहित्यिक छानबीन व ऐतिहासिक खोज में विशेष सहयता पहुंचे। यह हम माला के प्रथम ग्रन्थ में ही प्रकट कर चुके हैं। यदि उस उद्देश्य की प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा किसी अंश में पूर्ति हुई तो हम व हमारा मण्डल अपने प्रयास को सफल समझेंगे। उसी दिशा में किसी प्रकार की कमी व त्रुटि की पूर्ति के सम्बन्ध में हमारे विद्वान् पाठक जो सम्मति प्रदान करने की कृपा करेंगे उसका हार्दिक स्वागत किया जायगा।

किंग एडवर्ड कालेज,<br>अमरावती<br>अनन्त चतुर्दशी, वि. सं. १९८९.

हीरालाल

# विषयसूची

# भूमिका

## १ संशोधन सामग्री ।

अबतक सावयधम्मदोहा की प्राचीन हस्तलिखित नौ पोथियां हमारे देखने में व दो सुनने में आई हैं। इनमें से चुनी हुई चार पोथियों ( अ क ज. द. ) का अक्षरशः मिलान करके प्रस्तुत संस्करण में उनके पाठ भेद अंकित किये गये हैं व शेष से यत्र तत्र सहायता ली गई है। इन प्रतियों का परिचय इस प्रकार है—

अ. प्रति मोतीकटरा, आगरा, के दिगम्बर जैन मंदिर की है। पत्र संख्या-१८; आकार ९ ३/४''×९''; पंक्तियां प्रति पृष्ठ – ७ से ९ तक; वर्ण प्रतिपंक्ति-लगभग ३०; हाँसिया ऊपर नीचे- १'', दाँये बाँये १ १/४''। प्रारम्भ का एक और अन्त के दो पत्र दूसरे हाथ के लिखे हुए हैं। अनुमानतः पहले पत्र बहुत जीर्ण होजाने से उनकी नकल करके ये पत्र जोड़ दिये गये हैं। जीर्ण पत्रों का अब पता नही है।

प्रारम्भ–ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

अंत–इति श्रावकाचारदोहका जोगेन्द्रदेवकृत संपुर्ण ॥ शुभं भवतु ॥

इस प्रति में कुल दोहों की संख्या २२५ है। अधिक दोहा परिशिष्ट में देखिये। १० वें दोहे के प्रथम चरण का पाठ कुछ भिन्न है [ पाठभेदों में देखिये ]। इसके पाठ क. प्रति से अधिक मिलते हैं।

क. प्रति कारंजा के सेनगणभंडार की है। पत्रसंख्या- १६; आकार- ११''×५''; पंक्तियां प्रतिपृष्ठ- ९; वर्ण प्रतिपंक्ति- लगभग ३०; हाँसिया ऊपर नीचे-३/४'', दाँये बाँये- १''।

प्रारम्भ–ॐ नमः श्री पार्श्वनाथाय ह्रीं धरणेन्द्रपद्मावतीसहिताय ।

अन्त–इय दोहाबद्धवयधम्मं देवसेनै उवदिट्ठ ।

लहुअक्खरमत्ताहीयमो पय सयण खमंतु ॥

इय दोहाबद्धसावयधम्मधम्मस्ते लिखितमिनं जगतकीर्तेण संवत् १७८० कुवार वदि १४ हृदयनग्रमध्यात् लिषितमिनं ।

इसमें कुल दोहों की संख्या २३५ है और एक संस्कृत श्लोक 'उक्तं च' रूप से उध्दृत किया गया है ( परिशिष्ट देखिये )। इसके पाठ अ. प्रति से अधिक मिलते हैं ।

ज. प्रति जयपुर के तेरापंथी मंदिर की है। पत्रसंख्या– ११; आकार– १०$\frac{१}{२}$" × ४$\frac{१}{२}$"; पंक्तियां प्रतिपृष्ठ– १३; वर्ण प्रति पंक्ति– लगभग ३५; हाँसिया ऊपर नीचे–$\frac{१}{२}$"; दाँये बाँये–१$\frac{१}{४}$".

प्रारम्भ– श्री जिनाय नमः ।

अन्त— इति श्रीश्रावकाचारदोहकं समाप्तं ।

इसमें कुल दोहों की संख्या २२३ है। दोहा नं. २१९ नहीं है। नबर देने में त्रुटि के कारण प्रति के अन्तिम दोहे पर नं. २२१ आया है।

द. प्रति पंचायती दिगम्बर जैन मंदिर, देहली, की है। पत्रसंख्य १३; आकार–११$\frac{१}{२}$"×५" ; पंक्तियां प्रतिपृष्ठ–९ से ११ तक; वर्ण प्रति-पंक्ति–लगभग ३२; हाँसिया ऊपर नीचे–$\frac{३}{४}$", दाँये बाँये– १" दोहों की संख्या २२४.

प्रारम्भ– ॐ नमो वीतरागाय ।

अन्त–इति श्रावकाचारदोहकं समाप्तम् ।

अथ संवत्सरेऽस्मिन श्री नृपविक्रमादित्यराज्य संवत् १६०३ वर्षे । श्रावण वदि ११ शुक्रदिने । मृगाशिरनक्षत्रे । व्याघात-

> नामयोगे। मानस उपजोगे। श्रीपथानुभस्थाने। श्रीसाहि असलेमसाहिराज्यप्रवर्त्तमाने। श्रीजैनसंघे महावीर तत् शिष्यणी शीलतोयतरंगिणी बाई देवकालिखापितं आत्मार्थे।
> ज्ञानवान् ज्ञानदानेन इत्यादि चार श्लोक.

इस प्रशस्ति से हमें ज्ञात होता है कि यह प्रति विक्रम संवत् १६०३ तदनुसार सन् १५४६ ईस्वी में लिखी गई थी और उस समय दिल्ली के तख्त पर साह असलेमसाह (शेरशाह सूर का बेटा सलीमशाह सूर) था। यह उल्लेख मुगल व शूरवंश के इतिहास के लिये महत्वपूर्ण है।

प. प्रति जयपुर के पाटोदी जैन मंदिर की है। पत्र संख्या–१९; दोहों की संख्या– २२४. हाँसिये पर टिप्पण है।

> अन्त– इति उपासकाचारे आचार्य श्री लक्ष्मीचन्द्रविराचिते दोहकसूत्राणि समाप्तानि। स्वस्ति संवत् १५५५ वर्षे कार्तिक सु. १५ सोमे *श्रीमूलसंघे सरस्वतीगछे बला-*त्कारगणेऽभयविद्यानंदिपट्टे मल्लिभूषण तत्शिष्य पं. लक्ष्मण-पठनार्थं दोहाश्रावकाचार।

यह प्रति वि. सं. १५५५ तदनुसार सन् १४९८ ईस्वी की लिखी हुई है। अतः प्राप्त पोथियों में जिनमें लिखने का समय पाया जाता है उन सब में प्राचीन है। दुर्भाग्य से इस प्रति का पूरा २ मिलान करने की मुझे सुविधा न मिल सकी।

प. २. यह प्रति भी उपर्युक्त पाटोदी मंदिर की है। पत्र संख्या– ११; दोहों की संख्या– २२४. लिखने का समय नहीं दिया गया।

प ३ यह प्रति भी उपर्युक्त पाटोदी मंदिर की है। पत्र संख्या– १४; दोहों की संख्या– २२७; लिखे जाने का समय– संवत् १६१२ वैसाख सु ११.

प. ४ यह प्रति भी उपर्युक्त पाटोदी मंदिर की है। पत्र संख्या- ८; दोहों की संख्या- २२७; लिखे जाने का समय नहीं दिया है।

भ. प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, की नं. १३०८/ १८९१-९५ की है। पत्र संख्या- १००, आकार- १०$\frac{3}{4}$" × ५"; पंक्तियां प्रतिपृष्ठ-४; वर्ण प्रतिपंक्ति- लगभग २८; हांसिया ऊपर नीचे- १", दँये बाँये- १$\frac{1}{2}$". इसमें दोहों की संख्या २२५ है। दोहा नं. २०० व २१९ नहीं हैं तथा तीन दोहे अधिक हैं [ परिशिष्ट देखिये ]। किन्तु नंबर देने में त्रुटि के कारण अन्तिम दोहे का नं. २२६ आया है। यह प्रति सटीक है। इसके पाठों व टीका का उपयोग प्रस्तुत प्रन्थ की 'टिप्पनी' में किया गया है। टीका का विशेष परिचय आगे दिया जायगा।

प्रारम्भ- अथ प्राकृत दोधकबंध उपासकाचार लिख्यते।
अन्त- इति श्रावकाचारदोहकं लक्ष्मीचन्दकृत समाप्तं। श्री।

मूलं योगीन्द्रदेवस्य लक्ष्मीचन्द्रस्य पंजिका।
वृत्तिः प्रभाचन्द्रमुनेर्म्महती तत्त्वदीपिका ॥ १॥

भ. २. यह प्रति भी उपर्युक्त भाण्डारकर इंस्टीट्यूट की है। और संवत् १५९३ की लिखी हुई है। दोहों की संख्या २२४ है तथा ग्रंथ का नाम 'श्रावकाचार दोहडा' दिया गया है।

भ. ३. यह प्रति भी उपर्युक्त भाण्डारकर इंस्टीट्यूट की है। इसमें दोहों की संख्या २२४ है। १० वें दोहे का पाठ अ प्रति के समान है (पाठभेद देखिये)। यह संवत् १५९९ की लिखी हुई है।

अन्त- इति उपासकाचारे आचार्यलक्ष्मीचन्द्राविरचिते दोहक- सूत्राणि समाप्तानि।

उपर्युक्त दोनों प्रतियां रत्नकीर्ति के शिष्य आर्य व ब्रह्म बहोडन के किये लिखी गई हैं। वे उपर्युक्त इंस्टीट्यूट के नं. ९९२/१८८७-९१ के एक

ही गुटके में बंधी हुई हैं। इन प्रतियों को हमने नहीं देख पाया। उनका परिचय हमें हमारे मित्र श्रीयुक्त ए. एन. उपाध्ये, एम ए., अर्धमागधी प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापुर, के एक पत्र से प्राप्त हुआ है।

## २ ग्रन्थकर्ता

यह ग्रन्थ किसका बनाया हुआ है यह प्रश्न बड़ा जटिल है। ग्रन्थ के मूलभाग में कर्ता का कहीं, कोई, किसी प्रकार का भी उल्लेख नहीं पाया जाता। किन्तु जिन हस्तलिखित प्रतियों का ऊपर परिचय दिया गया है उनमें से अनेक के अन्त में ग्रन्थसमाप्तिसूचक वाक्यों में ग्रन्थकर्ता का नामोल्लेख किया गया है। हम यहां इन्हीं उल्लेखों की सूक्ष्म जांच कर सच्चे ग्रन्थकर्ता के पता लगाने का प्रयत्न करेंगे।

तीन पोथियों (प; म; भ. २.) में यह ग्रन्थ लक्ष्मीचन्द्रकृत या विरचित कहा गया है। विद्यानन्दि के शिष्य श्रुतसागर कृत षट्प्राभृत टीका में इस ग्रन्थ के आठ दोहे उध्दृत किये गये हैं और दो स्थानों पर उन दोहों के कर्ता स्पष्ट रूप से लक्ष्मीचन्द्र या लक्ष्मीधर कहे गये हैं– 'तथा चोक्तं लक्ष्मीचन्द्रेण गुरुणा'; 'तथा चोक्तं लक्ष्मीधरेण भगवता'। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनो नाम एक ही व्यक्ति के द्योतक हैं। इससे भी उक्त प्रतियों के कथन की पुष्टि होती है। षट्प्राभृतटीका की प्रकाशित पुस्तक की भूमिका में जो श्रुतसागर का परिचय दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि लक्ष्मीचन्द्रजी उनके समसामयिक थे तथा उनकी गुरुपरम्परा इसप्रकार थी– विद्यानन्दि– मल्लिभूषण– लक्ष्मीचन्द्र। उनकी एक चेली ने आशाधर कृत 'महाभिषेकभाष्य' को अपने हाथ से लिखकर संवत् १५८२ में पूरा किया था। इन उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मीचन्द्रजी ही प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता थे, तथा वे संवत् १५८२ के लगभग हुए हैं।

किन्तु भ. प्रति में जो अन्तिम श्लोक है उससे इस कथन की सत्यता में सन्देह उपस्थित हो जाता है। इस श्लोक में प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ

तीन नामों का सम्बन्ध बतलाया गया है-मूलग्रन्थकार योगीन्द्रदेव, पंजिका-कार लक्ष्मीचन्द्र और वृत्तिकार प्रभाचन्द्र मुनि। इसी कथन के साथ साथ प. प्रति के अन्तिम वाक्य पर विचार कीजिये। उस वाक्य में कहा गया है कि संवत् १५५५, कार्तिक सुदि १५, सोमवार को विद्यानन्दि के पट्ट पर अधि-ष्ठित मल्लिभूषण के शिष्य पं. लक्ष्मण के पठनार्थ दोहकश्रावकाचार लिखा गया। हमारा अनुमान है कि लक्ष्मण लक्ष्मीचन्द्र का दीक्षित होने से पूर्व का नाम है और उन्ही की शिष्यावस्था में उनके पठनार्थ वह प्रति तैयार हुई थी। इससे निश्चय होगया कि लक्ष्मीचन्द्रजी इन दोहों के मूलकर्ता नहीं हैं। उनकी बनाई हुई 'पंजिका' कौनसी है इसपर आगे चलकर विचार किया जायगा। प. प्रति में जो 'लक्ष्मीचन्द्रविरचिते' वाक्य आगया उसी से पीछे के लिपिकारों ने तथा श्रुतसागरजी ने धोखा खाया। यथार्थ में वहां 'श्री लक्ष्मीचन्द्रलिखिते' या श्रीलक्ष्मीचन्द्रार्थेलिखिते' पाठ होना चाहिये था। लक्ष्मीचन्द्रकृत अन्य कोई संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश ग्रन्थ हमारे देखने सुनने में नहीं आया।

ग्रन्थकर्ता की खोज में अब हमारी दृष्टि योगीन्द्रदेव पर जाती है जो अ. और भ. प्रति में इस ग्रन्थ के कर्ता कहे गये हैं। योगीन्द्रदेव के अबतक चार ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं-परमात्मप्रकाश, योगसार, अमृताशीति और निजात्माष्टकम्। इनमें से प्रथम दो प्रस्तुत ग्रन्थ के समान ही अप-भ्रंश दोहों में रचे गये हैं। तीसरा ग्रन्थ संस्कृत व चौथा प्राकृत में है। श्रीयुक्त उपाध्ये ने एक अंग्रेजी लेख में प्रस्तुत ग्रन्थ व परमात्मप्रकाश का मिलान कर यह मत प्रकट किया है कि इन दोनों की रचना में एक दो जगह साधारण साम्य को छोड़ कोई स्मरणीय सादृश्य नहीं है। हमने ग्रन्थकार के सभी ग्रन्थों को इसी हेतु से देखा। तीन ग्रन्थों में से तो कोई सादृश्य नहीं मिला किन्तु परमात्मप्रकाश में निम्न लिखित उक्तियों पर दृष्टि अटकी। मिलान की सुविधा के लिये हम प्रस्तुत ग्रन्थ के अवतरणों के साथ साथ इन्हें यहां लिखते हैं —

| परमात्मप्रकाश | सावयधम्मदोहा |
|---|---|
| ८ भावें पणविवि पंचगुरु | १ पणवेप्पिणु भावें पंचगुरु |
| २०३ मरगउ जेण वियाणियउ तहिं कंचि कउ गण्णु। | २ जिम मरगउ कच्चेण |
| २१८ खीला लग्गिवि ते जि मुणि देउलु देउ कहंति। | १०६ देउल लग्गिय खिल्लियइं किं ण पलोइइ मुक्खु। |
| २२१ अत्थउ कहिं मि कुडिल्लियइं | ११२ जाम ण देहकुडिल्लियइं |
| २३९ रूवि पयंगा सद्दि मिय ... | १२६ रूवासत्त पयंगडा ... |
| २४१ लोहइं लग्गिवि हुयवहइं पिक्खु पडंतउ तोडु। | १३४ लोहमुक्कु सायरु तरइ पेक्खु परोहण तेम। |
| २६८ मूलविणट्ठइं तरुवरहं अवसइं सुक्कहिं पण्ण। | ४५ अह कंदलि उप्पाडियइं वेल्लिहे पत्त समत्त। |
| २९२ तुट्टइ मोहु तडत्ति तसु | १०० फुट्टिवि जाइ तडत्ति |

अब प्रश्न यह है कि क्या अ. और म. प्रति के कथन तथा उपर्युक्त सादृश्य पर से यह ग्रन्थ योगीन्द्रदेवकृत कहा जा सकता है ? सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन सादृश्यों में हमें ऐसा एक भी नहीं दिखता जो आकस्मिक न हो सकता हो। फिर, भाषा को छोड़ कर जब हम विषय पर आते हैं तो योगीन्द्र के ज्ञात ग्रन्थों तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में बड़ा अन्तर मिलता है। योगीन्द्र यथार्थ नाम योगीन्द्र ही थे। उनके सब ग्रन्थ अध्यात्म तत्वों से ओतप्रोत हैं। उनका उपदेश आदि से अन्त तक यही है कि बाह्य क्रियाओं व आडम्बरों में कुछ तथ्य नहीं है। अपनी आत्मा में लीन होने से ही सच्चा सुख मिल सकता है। योगीन्द्र को सृष्टि आत्ममय दिखती थी। उनके विचार वेदान्तियों कैसे थे। वे देव, शास्त्र, गुरु की पूजा के बहुत परे थे। उनके विचार थे—

देउलु देउ वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउ वि कव्वु ।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥ पर. २५७॥

कासु समाहि करउं को अंचउँ ।
छोपु अछोपु करिवि को वंचउँ ॥
हल सह कलहि केण सम्माणउँ ।
जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउँ ॥ योग. ३९ ॥

इन विचारों को लेकर यह संभव नहीं जान पड़ता कि उन्होंने दान, पूजा, उपवासादि के महत्व के प्रतिपादक प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की होगी। यह हो सकता है कि उन्होंने योगीन्द्र होने से पूर्व गृहस्थावस्था में ही इस ग्रन्थ की रचना की हो। किन्तु एक तो इस ग्रन्थ में उनकी भावी अध्यात्मिकता के कोई विशेष लक्षण नहीं पाये जाते। दूसरे कवित्व की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ योगीन्द्र के अन्य ग्रन्थों से अधिक प्रौढ जान पड़ता है। अतः एक ही ग्रन्थकार की कृति मानने पर उसे इन ग्रन्थों से पूर्व रचित कहना उपपन्न नहीं जँचता।

ग्रन्थकार के सम्बन्ध में हमें जो तीसरा संकेत मिलता है वह क. प्रति के अन्तिम दोहे में है। उसमें यह ग्रन्थ 'देवसेनें उवदिट्ठ' अर्थात् देवसेन द्वारा उपदिष्ट कहा गया है। दिगम्बर जैन ग्रन्थकारों में देवसेन एक सुप्रसिद्ध प्राकृत कवि हुए हैं। उनके प्रकाशित ग्रन्थ दर्शनसार, आराधनासार, तत्वसार, नयचक्र, आलाप पद्धति व भावसंग्रह- इस समय हमारे सन्मुख हैं। आलापपद्धति को छोड़ शेष सब ग्रंथ प्राकृत भाषा में रचे गये हैं। दर्शनसार को छोड़ शेष सब माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ से साम्य की खोज में हमनें इन सब को देख डाला। भावसंग्रह में हमें हमारे ग्रन्थ से कुछ विशेष सादृश्यतायें मिली हैं। उन्हें हम यहां उद्धृत करते हैं-

| सावयधम्मदोहा | | भावसंग्रह | |
|---|---|---|---|
| ३ | जिह समिलहिं सायर गयहिं<br>दुल्लहु जूयहु रंधु ।<br>तिह जीवहं भवजलगयहं<br>मणुयत्तणि संबंधु ॥ | १६९ | अहवा जइ कहव पुणो<br>पावइ मणुयत्तणं च संसारे ।<br>जुयसमिला संजोए<br>लहइ ण देसो कुलं आऊ ॥ |
| २२ | मज्जु मंसु महु परिहरहि<br>करि पंचुंबर दूरि । | ३५६ | महुमज्जमंसविरई<br>चाओ पुण उंबराण पंचण्हं । |
| ८१ | दंसण रहिय कुपत्ति जइ<br>दिण्णइ ताह कुभोउ । | ५३३ | कुच्छियपत्ते किं चि वि<br>फलइ कुदेवेसु कुणरतिरएसु । |
| ८२ | हयगयसुणहहं दारियहं<br>मिच्छादिट्ठिहिं भोय । | ५४४ | केई पुण गयतुरया<br>गेहे रायाण उण्णई पत्ता । |
| ८३ | तं अपत्तु आगमि भणिउ<br>णउ वयदंसणु जासु ।<br>णिप्फलु दिण्णउ होइ तसु<br>जह ऊसरि कउ सासु ॥ | ५३२ | ऊसरखित्ते बीयं सुक्खे रुक्खे<br>य णीरअहिसेओ । जह तह<br>दाणमवत्ते दिण्णं खु णिर-<br>त्थयं होइ ॥ |
| ८५ | इक्कु वि तारइ भवजलहि<br>बहुदायार सुपत्तु ।<br>सुपरोहणु एक्कु वि बहुय<br>दीसइ पारहु णिंतु | ५०९ | जह णावा णिच्छिद्दा....<br>तारइ पारावारे.... |
| | | ५१० | तह संसारसमुद्दे...<br>तारेइ गुणाहियं पत्तं । |
| १६१ | इकछिद्दिय पाहणभरिय<br>बुड्डइ णाव ण भंति | ५४८ | णावा जह सच्छिद्दा<br>परमप्पाणं च उवहिसलिलम्मि<br>बोलेइ तह कुपत्तं<br>संसार महोवही भीमे ॥ |

८६ दाणु कुपत्तहं दोसडइ
बोलिज्जइ णहु भंति ।
पत्थरु पत्थरणाव कहिं
दीसइ उत्तारंति ॥

५४७ पत्थरमया वि दोणी
पत्थरमप्पाणयं च बोलेइ ।
जह तह कुच्छियपत्तं
संसरि चेव बोलेइ ॥

१९२ णमणट्ठियहं तरंडउ वि
अहव ण पावइ पारु ।

१८७ जह पाहाणतरंडे
लग्गो पुरिसो हु तीरणी तोए।
वुड्ड विगयाधारो...

२२१ लोहकज्जि दुत्तरतरणि
णाव वियारिय तेण ।

५४९ लोहमए कुतरंडे
लग्गो पुरिसो हु तीरणीवाहे ।

८९ काइं बहुत्तइं संपयइं
जइ किविणहं घरि होइ ।

५५९ किविणेण संचयधणं
ण होइ उवयारियं जहा तस्स ।

९३ जो घरि हुंतइं धणकणइं
मुणिहिं कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिद्दडउ
पुट्ठि ण तहु छंडेइ ॥

५१६ जो पुण हुंतइं धणकणइं
मुणिहिं कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिद्दडउ
पुट्ठि ण तहो छंडेइ ॥

९६ उत्तमाइं भोयावणिहिं

९७ घरि घरि दस कप्पयर जहिं
ते पूरहिं अहिलासु ।

५८७ पुण्णबलेणुववज्जइ
कहमवि पुरिसो य भोयभूमीसु।
भुंजेइ तत्थ भोए
दहकप्पतरुब्भवे दिव्वे ॥

५९१ पायव दसप्पयारा
चिंतियं दिंति मणुयाणं ।

१३१ ण्हाणें सुज्झइ भंतिकउ
छित्तउ चंडालेण ।

१७ मण्णइ जलेण सुद्धिं
२० को इह जलेण सुज्झइ
२३ ण्हंता वि ते ण सुद्धा
२४ किं कुणइ तेसु ण्हाणं

१७० सुक्कमणि तलाउ

१८६ अह सरवरि णइसारिणइं
पाणिउ होइ अगाहु ।

१८३ जलधारा जिणपयगयउ
रयहं पणासइ णामु ।

३९२ अह गिरिणई तलाए
अणवरयं पविसए सलिल-
परिपुण्णं ।

३१९ गिरिणिग्गउ णइवाहो
पविसइ सरम्मि अहाणवरयं ।

४७० पसमइ रयं असेसं
जिणपयकमलेसु दिण्ण जल-
धारा ।

इन अवतरणों में भाव, भाषा व उक्तिविशेष का सादृश्य विचारणीय है। इसके अतिरिक्त कुछ शब्दों का साम्य भी उल्लेखनीय है—

कप्पड (सा. ५६, भा. ५७३); छंड या छड्ड (सा. ३९ आदि, भा. २११ आदि); तलाअ (सा. १७०, भा. ३९२); एवड्ड (सा. १५९, भा. ४१५); चडप्फड (सा. १२४,१५८, भा. ४५); तरंड (सा. १९२, भा. ५४९); कंज (सा. १२५, भा ४४९). ४१ वें दोहे का पुट्ठिमंस संभव है १७३ वीं गाथा के 'पिठर' का ही बोधक हो (देखो ४१ दोहे की टिप्पनी)।

यथार्थ में सावयधम्म के २२४ दोहे व भावसंग्रह की ३५० से ५९९ तक की २५० गाथाओं के विषय, भाव व भाषा में असाधारण सादृश्य है। कहीं एक ही विषय दोनो में एकही प्रकार से आया है, जैसे—

१. पात्र और दान का विवेक– सा. ७९ आदि; भा ४९७ आदि.

२. घृतादि सर्वरसाभिषेक – सा. १८१ आदि; भा. ४३८ आदि.

३. अष्टद्रव्यपूजा और फल – सा. १८४ आदि; भा. ४७१ आदि.

४. धर्म से स्वर्गादि सुख और मोक्ष–सा.१६३ आदि; भा. ४८४ आदि.

किसी किसी विषय का एक ग्रन्थ में उल्लेख मात्र तथा दूसरे में उसका पूरा विवरण मिलता है, जिससे ये दोनों ग्रन्थ एक दूसरे के परिपूरक से ज्ञात होते हैं; जैसे–

१. अष्टमूलगुण व बारह व्रत का भावसंग्रह की ३५२ व ३५६ वीं गाथाओं में उल्लेख मात्र है। सावयधम्म के १० से ५२ तक के ४३ दोहों में इन्ही का सविस्तर वर्णन है।

२. भावसंग्रह की ३७५ वीं गाथा में तीर्थंकर के अष्ट प्रातिहार्य का उल्लेख मात्र है। सावयधम्म में उन आठों का आठ दोहों (१७० – १७७) में काव्य की रीति से वर्णन है।

३. सावयधम्म के २१२ वें दोहे में सिद्धचक्र की स्थापना का बहुत सूक्ष्म उल्लेख है। इसी विषय का भावसंग्रह की ४४३ – ४५६ गाथाओं में बहुत विशद वर्णन है।

इस प्रकार इन दोनो ग्रन्थों में एक ही कर्ता का हाथ दिखाई देता है। विशेषतः सावयधम्म का जो ९३ वां दोहा भाव संग्रह के ५१६ नं. पर जैसा का तैसा पाया जाता है उससे इस विषय में बहुत कम सन्देह रह जाता है। भावसंग्रह जिन दो हस्तलिखित प्रतियों पर से छपाया गया है उनमें से एक प्रति में यह दोहा ' उक्तं च ' रूपसे पाया गया है। किन्तु अधिक पुरानी प्रति में ' उक्तं च ' शब्द नहीं हैं। यदि 'उक्तं च' शब्द मूल के ही मान लिये जांय तो इससे यही सिद्ध होता है कि सावयधम्म की रचना भावसंग्रह से पूर्व हो चुकी थी और कर्ता ने उस दोहे को यहां प्रसंगोपयोगी जान उध्दृत कर दिया। ऐसी द्विरुक्ति देवसेनजी के अन्य ग्रन्थों में भी पाई जाती है। इसी भावसंग्रह में उनके दर्शनसार की अनेक गाथायें आई हैं। उक्त दोहे को पीछे का प्रक्षिप्त मानने का न तो कोई प्रमाण है और न कोई कारण।

एक और बात है जो प्रस्तुत ग्रन्थ को देवसेनकृत स्वीकार करने में सहायता पहुंचाती है। देवसेनकृत जिन ग्रन्थों का उल्लेख हम ऊपर कर

आये हैं उनमें एक 'नयचक्र' भी है। माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में यह लघु नयचक्र के नाम से छपा है और उसी के साथ एक और बृहत् नयचक्र छपा है जो माइल्लदेवकृत है। मिलान करने से ज्ञात हुआ है कि बृहत् नयचक्र में लघु नयचक्र पूरा गुंथा हुआ है। यदि हम पहले को दूसरे का परिवर्धित रूप या दूसरे को पहले का संक्षिप्तरूप कहें तो अनुचित न होगा। इस परिवर्धित रूप के अन्त में निम्न लिखित चार गाथायें पाई जाती हैं—

सुणिऊण दोहरत्थं सिग्घं हसिऊण सुहंकरो भणइ।
एत्थ ण सोहइ अत्थो गाहाबंधेण तं भणह ॥ ४१८ ॥

सियसद्दसुणयदुण्णयदणुदेहविदारणेक्कवरवीरं।
तं देवसेनदेवं णयचक्कयरं गुरुं णमह ॥ ४२१ ॥

दव्वसहावपयासं दोहयबंधेण आसि जं दिट्ठं।
गाहाबंधेण पुणो रइयं माइल्लदेवेण ॥ ४२२ ॥

दुसमीरणेण पोयप्पेरिय संतं जह तिरं णट्ठं (?)।
सिरिदेवसेणमुणिणा तह णयचक्कं पुणो रइयं ॥ ४२३ ॥

इन गाथाओं का अर्थ की दृष्टि से क्रम ठीक नहीं जान पड़ता तथा ४२३ वीं गाथा का पाठ कुछ भ्रष्ट है अतएव उसका भाव भी कुछ अस्पष्ट है। किन्तु मेरी समझ में इनका भाव यह आता है कि कोई प्राचीन नयचक्र अप्रसिद्ध होगया था उसका पुनरुद्धार करने की दृष्टि से देवसेन ने फिरसे उसकी रचना की *। यह रचना दोहाबंध में हुई जिसे सुनकर एक शुभंकर महाशय ने हँस दिया और कहा कि यह अर्थ इस छंद में नहीं सोहता, इसे गाथाबद्ध करो। तदनुसार उनके शिष्य माइल्लदेव ने उसे गाथाओं में परिवर्तित किया।

---

* देवसेनजी को प्राचीन रचनाओं को खोजकर उनके पुनरुद्धार की बड़ी रुचि थी। दर्शनसार में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि पुरानी गाथाओं का संचय करके ही उन्होंने उस ग्रन्थ को रचा।

यदि उक्त गाथाओं का यही ठीक भावार्थ हो तो हमें उससे दो बातें ज्ञात होती हैं। एक तो यह कि दोहा छंद का आविष्कार उस समय संभवतः नया था और पंडित-मंडली में वह हेय दृष्टि से देखा जाता था। दूसरी यह कि देवसेन को इस छंद में ग्रन्थरचना करने की रुचि थी। उनके भावसंग्रह में ही पांच पद्य अपभ्रंश भाषा के रड्डा छंद के पाये जाते हैं और शेष भाग में भी अपभ्रंश भाषा का अधिक प्रभाव दिखता है। नयचक्र का विषय पाण्डित्यपूर्ण न्याय था। अतः 'शुभंकर' के कुचक्र से उसका दोहाबद्ध रूप नष्ट कर दिया गया। किन्तु सावयधम्म साधारण गृहस्थों के लिये लिखा गया था इससे वह उस कुचक्र से बच गया।

सौभाग्य से देवसेनजी के समय व देश के सम्बन्ध में कोई अनिश्चय नहीं है। उन्होंनें अपने दर्शनसार ग्रन्थ के अन्त में स्पष्ट रूप से कह रक्खा है कि उन्होने उस ग्रन्थ की रचना धारा नगरी के पार्श्वनाथ मंदिर में बैठकर संवत् ९९० की माघ सुदि १० वीं को समाप्त की। यथा—

'पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥ ४९ ॥

रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरि पासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥ ५० ॥

धारा नगरी व मालवा प्रान्त में सदैव विक्रम संवत् का प्रचार रहा है तथा दर्शनसार में अन्यत्र जहां जहां संवत् का उल्लेख आया है वहां कर्ता ने स्पष्टतः 'विक्कमकालस्स मरणपत्तस्स' ऐसा कहा है। इससे उपरोक्त संवत् के भी विक्रम संवत् होने में कोई संदेह को स्थान नहीं है। धारानगरी विद्वानों के जुटाव के लिये प्राचीन काल में प्रसिद्ध ही रही है। प्राकृत भाषा का भी यहां अच्छा पठन होता रहा है। उपलब्ध प्राचीनतम प्राकृत कोष 'पाइयलच्छी-नाम-माला' की रचना भी जैन कवि धनपाल ने

विक्रम संवत् १०२९ में यहीं की थी व यहां के निवासी प्रभाचन्द्र पंडित ने विक्रम संवत् ११९२ के आसपास पुष्पदन्त के अपभ्रंश काव्यों पर टिप्पण लिखे थे। (देखो णायकुमारचरिउ, भूमिका)।

अतः सिद्ध हुआ कि प्रस्तुत सावयधम्मदोहा के कर्ता देवसेन हैं, उसकी रचना विक्रम संवत् ९९० के लगभग मालवा प्रान्त की धारा नगरी में हुई है तथा यह ग्रन्थ दोहा छंद का एक प्राचीनतम उदाहरण है।

## ३ ग्रन्थ का नाम, प्रचार, टीकाटिप्पनी व परम्परा.

इस ग्रन्थ का विषय श्रावकों का धर्म व आचार है। इस विषय के जैन ग्रन्थों का नाम प्रायः श्रावकाचार व उपासकाचार ही रक्खा जाता है। तदनुसार ही प्रस्तुत ग्रन्थ अधिकांश पोथियों में 'श्रावकाचार दोहक' या 'उपासकाचार' कहा गया है। किन्तु मूल ग्रंथ में यह नाम कहीं नही पाया जाता। 'श्रावकाचार' शब्द तक मूल ग्रन्थ में कहीं नही आया। ग्रन्थ कर्ता ने प्रथम ही दोहे में इसे 'सावयधम्म' कहा है व अन्त में (२२२ वां दोहा) इसे 'धम्मधेणु संदोहयहं' 'दोहों की धर्मधेनु' कहा है। क. प्रति में ग्रन्थ का नाम 'दोहाबद्ध सावयधम्म' दिया गया है। यही नाम कर्ता को अभीष्ट ज्ञात होता है। तदनुसार ही प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'सावयधम्म-दोहा' रक्खा गया है।

जान पड़ता है गत शताब्दियों में इस ग्रन्थ का कुछ अच्छा प्रचार रहा है, इसी से इसकी हस्तलिखित प्रतियां दिल्ली, आगरा, जयपुर, बरार व पूना में पाई गई हैं। कई प्राचीन लेखकों ने इसके सुंदर दोहे अपनी कृतियों में उध्दृत किये हैं। 'दोहा पाहुड*' में इसका एक दोहा (२१३) पाया जाता है। श्रुतसागर ने अपनी षट्प्राभृत टीका में इसके आठ दोहे (१०५, १०९–

---

* यह ग्रन्थ भी अपभ्रंश दोहों में है। इसे भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित करने का प्रबन्ध हो रहा है।

११२, ११९, १४८ और १५६ ) उध्दृत किये हैं जैसा कि ऊपर कह आये हैं। ब्रह्म नेमिदत्त कृत प्रीतिंकरचरित में इसके दो दोहे ( २८, ६७ ) पाये गये हैं। सूक्ष्म परिशीलन से और अनेक ग्रन्थ में इन दोहों के पाये जाने की सम्भावना है।

भ प्रति के अन्तिम श्लोक से हमे ज्ञात हुआ है कि इस ग्रंथ पर लक्ष्मीचन्द्र ने एक ' पंजिका ' तथा प्रभाचन्द्रमुनि ने एक ' तत्त्वदीपिका ' नामक ' वृत्ति ' लिखी। किन्तु उस पोथी पर से यह नही ज्ञात हो सका कि उसपर की टीका इनमें से कौन सी है। उस प्रति के वेष्टन पर भण्डारकर इन्स्टीटयूट के कर्मचारियों ने ' दोधक श्रावकाचार लक्ष्मीचन्द्र की पंजिका सहित ' ऐसा लिख रखा है जिससे ज्ञात होता है कि उनकी समझ धे वही टीका लक्ष्मीचन्द्र कृत पंजिका है। इसके लिये उनका आधार उक्त श्लोक के अतिरिक्त और कुछ नही दिखता। इसके निर्णय के लिये और कोई प्रमाण न पा हमारा ध्यान ' पंजिका ' व ' वृत्ति ' के अर्थ व भेद पर जाता है। हेमचन्द्राचार्य ने टीका व पंजिका की परिभ षा इस प्रकार की है **' टीका निरन्तरव्याख्या पञ्जिका पदभञ्जिका '** और इसकी टीका है 'सुगमानां विषमाणां च निरन्तरं व्याख्या यस्यां सा टीका। विषमाण्येव पदानि भनक्ति पदभञ्जिका '। इससे हमे ज्ञात हुआ कि लगातार व्याख्या का नाम टीका और केवल कठिन शब्दों की व्याख्या का नाम पञ्जिका है। हम ' वृत्ति ' की भी कोई प्राचीन परिभाषा जानना चाहते थे किन्तु वह हमें फिर हाल कहीं मिली नही। पर ' वृत्ति ' का हम यह अर्थ समझते आये हैं कि उसमें मूल का सरल शब्दों में अनुवाद दिया जाता है जिसे अंग्रेजी में paraphrase कह सकते हैं। भ. प्रति की टीका हमें इसी प्रकार की ज्ञात होती है। उसे हम उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार पञ्जिका नही कह सकते। उसमें केवल विषम पदो की व्याख्या नही है किन्तु पूरे दोहे का सरलार्थ देने का प्रयत्न किया गया है। हमारा अनुमान है कि यह लक्ष्मीचंद्रजी की ' पञ्जिका ' नहीं किन्तु प्रभाचन्द्रमुनि की ' महती तत्वदीपिका वृत्ति ' है।

इस वृत्ति में अन्तिम सात दोहों का अर्थ नहीं समझाया गया। हमने इस वृत्ति का उपयोग अपनी टिप्पनी में किया है। दो चार स्थानों पर इस वृत्ति से दोहों के अर्थ पर अच्छा प्रकाश पड़ा है और इसलिये हम इसके कर्ता का उपकार मानते हैं। किन्तु इस वृत्ति के कर्ता अपने लक्ष्य में कहां तक सफल हुए हैं यह टिप्पनी में स्थान स्थान पर उध्दृत अंशों से पाठकों को ज्ञात हो जावेगा। लेखक का साहस तो अवश्य प्रशंसनीय है किन्तु सत्य के नाते हमें कहना पड़ता है कि उनकी यह चेष्टा अधिकांश अनधिकार ही थी। उनके सन्मुख न तो मूल ग्रन्थ की शुद्ध कापी ही थी और न उनमें उसे शुद्ध कर सकने की शक्ति थी। वे अपभ्रंश भाषा के कुछ अच्छे जानकार ज्ञात नहीं होते। हां, विषय के जानकार अवश्य थे। उसी के सहारे बहुत कुछ अटकल पच्चू लिखते गये हैं। एकाध जगह तो उनका अटकल भी अटक गया ( देखो दोहा नं. १३५ की टिप्पनी )। उनका संस्कृत का ज्ञान भी बहुत अधूरा था। वे लिङ्ग, वचन, तिङन्त कृद-न्तादि के सब नियमों के परे थे। हम यह ऐसी त्रुटियों पर से नहीं कह रहे हैं जो लिपिकारकृत हों। उनकी भाषा में ऐसी त्रुटियां हैं जो लिपिमात्र के प्रमाद से नहीं हो सकतीं। वे कवित्व से भी सर्वथा हीन थे। मूल की सुन्दर सुन्दर उपमाओं व सूक्तों पर उन्होंने अपनी वृत्ति द्वारा पानी फेर दिया है। सारे ग्रन्थ में कठिनाई से दसबीस दोहे ऐसे होंगे जिनका पूरा भाव और शब्दार्थ उनकी वृत्ति में आगया हो। पूर्णतः शुद्ध संस्कृत तो शायद किसी एक दोहे की वृत्ति में भी न मिलेगी। पहले विचार हुआ था कि इन वृत्तियों के कुछ नमूने यहां उध्दृत किये जांय और इस हेतु कितने ही दोहों की वृत्तियां लिख भी डालीं थी। किन्तु पीछे उन्हें अनावश्यक जान छोड़ दिया। इस वृत्ति के विषय में हमने जो बातें यहां कही हैं उनके यथेष्ट प्रमाण टिप्पनी में उध्दृत अंशों में ही पाठकों को मिल जांयगे।

ये वृत्तिकार कब कहां हुए इसके न तो कोई प्रमाण हमारे सन्मुख हैं और न इसकी कुछ जांच पड़ताल करने की इच्छा ही होती। हां, इतना

कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यदि इसके कर्ता प्रभाचन्द्र नामधारी ही थे तो वे पुष्पदन्त के अपभ्रंश काव्यों पर टिप्पण लिखने वाले वे प्रभाचन्द्र नहीं हो सकते जिनका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं। प्रभाचन्द्र नामके अनेक मुनि और कर्ता हुए हैं (देखो 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार भूमिका पंडित जुगलकिशोर मुख्तार कृत, व जैनशिलालेखसंग्रह भाग १)। यह कृति कोई बहुत प्राचीन ज्ञात नहीं होती।

अब प्रश्न यह है कि इन दोहों की लक्ष्मीचन्द्रकृत 'पञ्जिका' कौनसी है। हमारा अनुमान है कि जो टिप्पण प. प्रति पर पाया जाता है वही यह पञ्जिका है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार टिप्पण और पञ्जिका में कोई बड़ा भेद ज्ञात नहीं होता।

अब हम पूर्वोक्त पोथियों की विशेषताओं पर से इस ग्रन्थ की परम्परा का कुछ अनुमान कर सकते हैं। देवसेनकृत मूल ग्रन्थ वि. सं. ९९० के लगभग तैयार हुआ। आगामी पांच सौ वर्षों में इसकी तीन प्रकार की प्रतियां प्रचलित होगईं। एक में कर्ता का नाम देवसेन पाया जाता था इसलिये हम इसे दे. प्रति कहेंगे। इसी पर से ह. अर्थात् हृदयनगर की वह प्रति तैयार हुई जिसमें ग्यारह दोहे और जुड़ गये तथा जिसपर से संवत् १७८० में हमारी क. प्रति तैयार हुई। दूसरी प्रति में परमात्मप्रकाश की भाषा व छन्द के साम्य पर से ग्रन्थ के कर्ता का नाम योगीन्द्रदेव जुड़ गया था। इसमें दोहों की संख्या २२४ थी। इसे हम यो. कहेंगे। इसी पर से हमारी अ. प्रति तैयार हुई होगी। हम कह चुके हैं कि अ. प्रति के पाठ क. से बहुत कुछ मिलते हैं अतएव इसका ह. से भी कुछ सम्बन्ध ज्ञात होता है। तीसरी प्रति में दोहों की संख्या २२३ या २२४ थी किन्तु कर्ता का नाम कोई भी नहीं पाया जाता था इसे हम वि. प्रति कहेंगे। इस पर से हमारी पांच प्रतियां (अ, प, द, प २ और भ २) तैयार हुई प्रतीत होती हैं। प. प्रति गुजरात में मल्लिभूषण के शिष्य लक्ष्मण ने सं. १५५५ में लिखाई। आगे चलकर ये ही लक्ष्मण लक्ष्मीचन्द्रके नाम से मल्लिभूषण के उत्तराधिकारी

हुए। भ. प्रति के अनुसार उन्होंने इस ग्रंथ की पंजिका बनाई जो प. प्रति पर का टिप्पण ही ज्ञात होता है।

हमारा अनुमान है कि भ. प्रति वाले तीन अधिक दोहे भी लक्ष्मीचन्द्रजी के ही बनाये हुए हैं। इस प्रकार उनकी तैयार की हुई (ल.) प्रति में २२७ दोहे होगये, जिस पर से २२७ दोहों वाली हमारी तीन प्रतियां [ भ ३, प ३, प ४ ] तैयार हुईं। भ. प्रति में तीन अधिक दोहे हैं, योगीन्द्रदेव मूल ग्रन्थकार कहे गये है तथा २१९ वां दोहा नहीं है। अतः उसका सम्बन्ध ल. अ. और ज. तीन प्रतियों से था। इस परम्परा को हम वृक्ष द्वारा और भी स्पष्टता से व्यक्त कर सकते हैं। जिन प्रतियों के नाम के साथ * यह चिन्ह है वे अबतक मिली नहीं हैं।
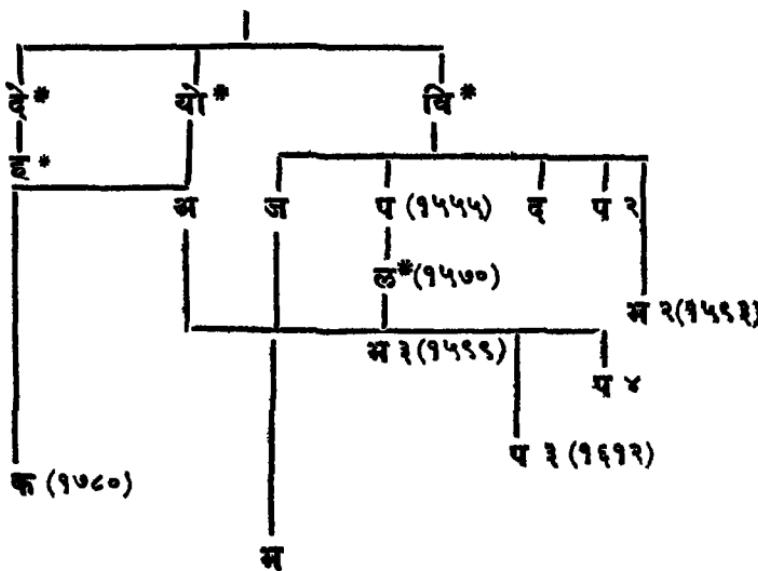
एक प्रश्न और है जिस पर भी यहां कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। दोहा नं. २२२ में जो कुछ कहा गया है उससे ज्ञात होता है कि उसके ऊपर के दोहों की संख्या मूलतः २२० थी। यद्यपि अ. प्रति में ' विंसुत्तरइं ' की जगह ' वावीसुत्तरइं ' पाठ है पर वह स्पष्टतः कल्पित है। अब प्रश्न यह है कि वह कौन सा दोहा है जो मूल में नहीं था तथा जिसके कारण हमारे दोहों की संख्या २२० की जगह २२१ होगई है। जैसा उपर कह आये हैं, ज. और भ. प्रतियों में दोहा नं. २१९ नहीं है। क्या वही दोहा पीछे का जोड़ा हुआ है? वह दोहा इतना सुन्दर तथा ग्रंथकार की शैली के इतना अनुकूल है कि उसे प्रक्षिप्त मानने को जी नही चाहता यद्यपि दोहा नं. २२१ की प्रथम पंक्ति प्रायः वही होने से यह भी संभव जान पड़ता है कि वह प्रक्षिप्त हो। इसका यथार्थ निर्णय कर निकालना बड़ा कठिन है और इसकी कोई बड़ी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। भर्तृहरि आदि कृत शतकों में प्रायः सौ से अधिक ही दोहे पाये जाते हैं।

## ४ भाषा और व्याकरण.

प्रस्तुत ग्रन्थ धार्मिक उपदेश तथा सूक्ति की दृष्टि से तो सुन्दर है ही पर उसका और भी विशेष महत्व उसकी भाषा में है। जैन भंडारों की सूचियों में इस भाषा के ग्रन्थ प्रायः ' मागधी भाषा ' के नाम से दर्ज किए हुए मिलते हैं किन्तु यह भाषा न तो मागधी है और न अन्य शौरसेनी आदि प्राचीन प्राकृत। किन्तु इन प्राकृतों ने प्रचलित देशी भाषाओं के पूर्व जो रूप धारण किया था वही इन ग्रन्थों में पाया जाता है। यह उनका विकसित या अपभ्रष्ट रूप है और इसी से इस भाषा का नाम अपभ्रंश या अवहट्ठ पड़ा। प्राकृत व अपभ्रंश भाषायें समय समय पर जनसाधारण की भाषायें रही हैं और इसीलिये वे अपने अपने समय में संस्कृत से भी अधिक मधुर और प्रिय गिनी जाती थीं। कर्पूरमंजरी के कर्ता राजशेखर

को संस्कृत और प्राकृत की रचना के माधुर्य में उतना ही अन्तर दिखता था जितना पुरुषों की कर्कशता और स्त्रियों की सुकुमारता में। उन्होंने कहा है—

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणम् ॥

[ कर्पूर- १, ८ ]

विद्यापति ठक्कुर को देशी अर्थात् अपभ्रंश भाषा माधुर्य में संस्कृत व प्राकृत दोनों से बढ़ी चढ़ी दिखने लगी थी। उन्होंने अपनी 'कीर्तिलता' में कहा है—

सक्कअवाणी बहुअ न भावइ
पाउअ रस को मम्म न पावइ।
देसिलबअना सब जन मिट्ठा
तँ तैसन जम्पओ अवहट्टा ॥

१०. वीं ११ वीं शताब्दि के लगभग यही भाषा समस्त उत्तर भारत में प्रचलित थी किन्तु देश भेद के अनुसार उसमें भेद थे। प्रस्तुत ग्रन्थ मालवा प्रान्त में लिखा गया है अतएव इसमें पश्चिम देश की अपभ्रंश भाषा पाई जाती है जिसका व्याकरण हेमचन्द्राचार्य ने अपनी प्राकृत व्याकरण में अच्छी तरह, खूब उदाहरणों सहित, दिया है। हमने 'णायकुमार-चरिउ' की भूमिका में इस भाषा के व्याकरण का सविस्तर परिचय कराया है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के पठन पाठन की सुविधा के लिये इसी ग्रन्थ पर से कुछ व्याकरण यहां भी दिया जाता है।

हिन्दी भाषा के साहित्य व इतिहास में इस भाषा के ग्रन्थों का क्या स्थान है यह सुस्पष्ट करने के लिये हिन्दी साहित्य के तीन प्राचीन ग्रन्थों —पृथ्वीराजरासो, बीसलदेवरासो और कीर्तिलता— से इसकी कुछ स्थूल रूप से यहां तुलना की जाती है—

१. कीर्तिलता में मैथिल देश का अपभ्रंश है जो मागधी प्राकृत से निकला हुआ है अतः उसमें न, श और ष, वर्ण तथा ग्र, द्र आदि संयुक्ताक्षर पाये जाते हैं। सावयधम्म का अपभ्रंश महाराष्ट्री प्राकृत का है अतः उसमें इन वर्णों का अभाव है।

२. कीर्तिलता में शब्दों के बीच में आये हुए अल्पप्राण वर्णों—क, ग, च, ज आदि— का बहुधा लोप नहीं हुआ। सावयधम्म में अधिकतः हुआ है और उनके स्थान पर कहीं कहीं य श्रुति पाई जाती है।

३. कीर्तिलता में परसर्गों का बहुत सूक्ष्म प्रादुर्भाव हुआ दिखाई देता है और प्राकृत विभक्तियां प्रायः उड़ गई हैं। बीसलदेवरासो व पृथ्वीराजरासो में कहीं कहीं परसर्ग और कहीं कहीं संयोगात्मक विभक्तिरूप, प्रायः दोनों अवस्थायें पाई जाती हैं। सावयधम्म में विभक्तियां कायम हैं यद्यपि उनकी जड़ उखड़ चली है। किन्तु परसर्ग का विकास केवल षष्ठी के साथ 'तण', व सप्तमी के बोध के लिये 'मज्झि' में कुछ २ दिखाई देता है।

४. उक्त तीनों ग्रन्थों में मुसलमानी भाषा के संसर्ग का प्रभाव है जैसा कि चन्द वरदाई ने स्पष्टरूप से स्वीकार किया है—

'षद् भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।'

प्रस्तुत ग्रन्थ में मुसल्मानी संसर्ग की गंध तक नहीं है। उसमें पुराण खूब है कुरान बिलकुल नहीं।

अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ का अनुवाद करने में मुझे एक और बात का अनुभव हुआ जिसे यहां प्रकट कर देना उचित जान पड़ता है। संस्कृत के अनेक क्रियापद ऐसे हैं जो अपभ्रंश में पाये जाते हैं और ब्रजभाषा आदि पुरानी हिन्दी में भी बहुत कुछ प्रचलित थे किन्तु जो प्रचलित खड़ी बोली में से लुप्त होगये हैं। उनका अर्थ व्यक्त करने के लिये अब हमें उनके भूतकालिक कृदन्त व विशेषण या संज्ञायें बनाकर 'होना' व 'करना' क्रिया के साथ उनका उपयोग करना पड़ता है। उदाहरणार्थ—

| संस्कृत | अपभ्रंश | पुरानी हिन्दी | प्रचलित रूप |
| --- | --- | --- | --- |
| नमति | णमइ | नमता है | नमन करता है |
| नश्यति | णासइ | नसता है | नष्ट होता है |
| प्रकाशते | पयासइ | प्रकाशता है | प्रकाशित होता है |
| मलिनायते | मइलेइ | मैलता है | मैला होता है |
| भक्षति | भक्खइ | भखता है | भक्षण करता है |
| वारयति | वारइ | वारता है | वारण करता है |
| प्रकटयति | पयडइ | प्रकटता है | प्रकट होता है। |

ऐसे उदाहरण अनन्त हैं। यह मुझे भाषा में उन्नति की जगह अवनति का लक्षण दिखता है। क्रियाओं का क्षेत्र घटना नहीं बढ़ना चाहिये था। मेरी समझ में ऐसे क्रियापदों का हिन्दी में प्रयोग प्रारंभना चाहिये।

## व्याकरण

१. सावयधम्म की अपभ्रंश भाषा में देवनागरी वर्णमाला के स्वरों में ऋ, ऐ व औ तथा व्यंजनों में ङ, ञ, श और ष को छोड़ कर शेष सब वर्ण पाये जाते हैं। न की स्थिति कुछ अनिश्चित सी दिखती है। अधिकतः उसके स्थान पर ण ही मिलता है। प्रस्तुत संस्करण में सर्वत्र ण ही रखा गया है।

उपर्युक्त वर्णों के स्थान में निम्न लिखित आदेश होते हैं।

ऋ के स्थान में अ, इ उ या रि। यथा, कय-कृत, घय-घृत, अमिअ-अमृत, किविण-कृपण, घिय-घृत, मुअ-मृत, रिसि-ऋषि इत्यादि.

ऐ के स्थान में इ, यथा, विआवच्च-वैयावृत्य.

औ के स्थान में ओ या अउ। यथा, ओसह-औषध, पोर-पौर, मउण-मौन।

ष व श के स्थान पर स। यथा, सोह–शोभा, कसाय–कषाय, देस–देश।

ङ् व ञ् के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार का उपयोग किया जाता है

संस्कृत भाषा के शब्द यहां प्रायः विकृत अवस्था में पाये जाते हैं। शब्द के मध्यवर्ती व्यञ्जनों में निम्न प्रकार विकार होते हैं—

अल्पप्राण व्यञ्जन का लोप व कहीं कहीं उसके स्थान पर य अथवा व का आदेश। यथा, वयण– वचन, पयासिअ– प्रकाशित, संखेव– संक्षेप, छेय– छेद, घाय– घात.

महाप्राण व्यञ्जनों के स्थान पर ह आदेश होता है। यथा, सुह– सुख, अह– अघ, उहय– उभय, दहिमहिअ– दधिमथित, महु– मधु, मुत्ताहल– मुक्ताफल,

कहीं कहीं म के स्थान में व और व के स्थान में म पाया जाता है। यथा, रामण–रावण, सुवण– सुमनस्।

य. के स्थान में ज पाया जाता है। यथा, जुय-युग, जस–यशः, जाण–यान।

संयुक्ताक्षर से प्रारम्भ होने वाले शब्दों में संयोग के दूसरे वर्ण का लोप कर दिया जाता है। यथा, वय– व्रत, तिहुयण–त्रिभुवन, वसण–व्यसन सावय– श्रावक, साइ–स्वाति। शब्द के शेष भाग में असवर्ण संयोग सवर्ण संयोग में परिणत कर दिया जाता है। यथा, दुद्ध– दुग्ध, कप्पयरु– कल्पतरु, कक्कस–कर्कश, सुक्क–शुष्क, जुत्त– युक्त, णिप्फल– निष्फल, अण्ण– अन्य।

कुछ संयुक्ताक्षरों के स्थान पर विशेष वर्णों का आदेश होता है। यथा–

क्ष– क्ख, ख या छ, पच्चक्ख– प्रत्यक्ष, पेक्खण– प्रेक्षण, खम– क्षमा, छण– क्षण।

ग्घ– ज्झ, दज्झ– दग्ध।

त्थ- च्छ, मिच्छत्त- मिथ्यात्व ।

त्य- च्च, सच्च- सत्य, चत्त- त्यक्त, विज्जावच्च- वैयावृत्य ।

द्य- ज्ज, सावज्ज- सावद्य, मज्ज- मद्य, जूअ- द्यूत ।

ध्य- ज्झ, मज्झिम- मध्यम, अज्झवसाय- अध्यवसाय,
सज्झाय- स्वाध्याय ।

ध्व- झु, झुणि- ध्वनि ।

प्स- च्छ, अच्छर- अप्सरस् ।

स्थ- ठ, ठाइ- स्थाति, अट्ठि- अस्थि ।

स्न- ण्ह, ण्हाण- स्नान

## २. संज्ञा

अधिकांश संज्ञायें अकारान्त पाई जाती हैं । हलन्त संज्ञाओं के अन्तर्व्यंजन का लोप करके वे अकारान्त बना ली गई हैं, यथा, जग-जगत्, तम-तमस् । द्विवचन बहुवचन में गर्भित हो गया है ।

## कारकरचना

| | एकवचन | | बहुवचन | |
|---|---|---|---|---|
| | विभक्ति | उदाहरण | विभक्ति | उदाहरण |
| कर्त्ता | उ | दुज्जणु, अमिउ, वासरु, कज्जु, सुहु, दुल्लहु, कंचणु. | अ | णर, सप्प, वय, तरु. |
| कर्म | उ | धम्मु, पंचगुरु, दंसणु, गेहु. | अ | दायार, णर, सुर. |
| करण | एँ | संखेवें, सम्मत्तें, संगें, णाइकें. | | |
| | एण | कमेण, सण्णासेण, पावेण. | | |
| | इँ | मग्गइं, उवएसइं कारणइं | | |
| | इण | तमिण, जित्तइण, बद्धइण. | | |

सम्प्रदान हु णरयहु, गोत्तहु, णिव्वाणहु. हं पत्तहं, चोरहं, जीवहं
हिं मुणिहिं.

अपादान हु सायहु. हं पंचुंबरहं.

सम्बन्ध हु जूयहु, तिमिरहु. हं चोरहं, वणयरहं,
हि,हिं सूरिहि, समिलहिं, ससिहिं. वग्घहं, धीवरहं.

अधिकरण इ जगि, मणुयत्तणि, अंधारइं, हं सरवरहं, मुक्कहं.
लोइ, घरि.

सम्बोधन अ जिय, वड, णिलज्ज.

आकारान्त व ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्द बहुधा ह्रस्वान्त कर दिये जाते हैं, यथा, दय–दया, कह–कथा, वेयण–वेदना, भेरि–भेरी.

किन्तु वेसा, चोरी इत्यादि भी पाये जाते हैं। कर्ता व कर्म कारक में ये प्रकृतरूप ही रहते हैं। शेष कारकों में पुल्लिंग से कोई बड़ी विशेषता नहीं पाई जाती।

नपुंसक लिंग का लोप सा होता हुआ दिखता है। शेष कारकों में तो इनका कोई विशेष चिह्न दिखाई नहीं पड़ता पर कहीं कहीं कर्ता बहुवचन में ये पहिचान पड़ते हैं, यथा, वसणइं, सिक्खावयइं.

## ३. सर्वनाम

कर्ता हउं (अहम्, मैं हूं), कोइ, सोइ, सो, जं तं (नपुं.) एहु, इहु एउ.

कर्म जं, तं.

करण पइं (त्वया, तूने), जेण, तेण.

सम्प्रदान पइं (तुभ्यम्, तुझको), तहु.

सम्बन्ध जसु, तासु, ताइं.

| ४. संख्यावाचक | पूरणार्थक |
|---|---|
| १ एक्क | पढमउ, पहिलउ. |
| २ दुण्णि, विण्णि | बीयउ, बिदिउ. |
| ३ तिण्णि | तिज्जउ |
| ४ चयारि | चउत्थु |
| ५ पंच | पंचमु |
| ६ छह | छट्ठउ |
| ७ सत्त | सत्तमु |
| ८ अट्ठ | अट्ठमु |
| ९ णव | णवमउ |
| १० दस | दसमउ |
| ११ एयारह | एयारहमउ |
| १२ बारह | |

## ५. क्रियापद

क्रियाओं में परस्मैपद आत्मनेपद व भ्वादि अदादि का कोई भेद नही रहा। द्विवचन बहुवचन में गर्भित हो गया है।

### वर्तमानकाल

| | एकवचन | | बहुवचन | |
|---|---|---|---|---|
| | प्रत्यय | उदाहरण | प्रत्यय | उदाहरण |
| उत्तम पु. | मि, उं | अक्खमि, करउं. | ... | ... |
| मध्यम पु. | हि, सि | अहिलसहि, डरहि, चाहहि, होसि. | ... | ... |
| अन्य पु. | इ | होइ, पिछइ, धरइ, करइ, वंदइ, पालइ, पियइ, हुणइ. | अंति, | जंति, विपडंति, हुंति, हवंति णिंति, भणंति. |
| | | | आइं | उप्पज्जइं. |

भूतकालिक क्रिया का कार्य प्रायः भूतकालिक कृदन्तों से निकाला जाता है। क्रिया का उदाहरण केवल एक मिल सका है, आसी- आसीत्।

भविष्यत्काल की क्रियाओं के उदाहरण भी बहुत थोड़े मिलते हैं, जाहि- यास्यसि ( तूं जायगा ), फलहिं- फलिष्यन्ति ( फलेंगे ), कुणहिं- करिष्यन्ति ( करेंगे ), होसि- भविष्यसि.

आदेश सूचक मध्यम पु. हि देहि, गोवहि, छंडहि, णिवारहि.
हु रक्खहु.
इ करि, छंडि, परिहरि, सुणि, मण्णि, म बोलि,
उ विक्खु.
अन्य पु. उ अच्छउ, आउ, जाउ.

विधिसूचक- करेइ, हणेइ.

कर्मणि प्रयोग- दिज्जइ, भुंजिज्जइ, ण्हविज्जइ, रक्खिज्जइ.

प्रेरणार्थक- कारयइ, उट्ठावइ.

वर्तमानकालिक कृदन्त-अंत- उज्झंत, सिंचंत, करंत.स्त्रीलिंग-उत्तारंति.

भूतकालिक कृदन्त- अ, इअ, इय- हुअ, मुक, गालिअ, भक्खिअ, कहिय, छड्डिय, उप्पाडिय।

पूर्वकालिक अव्यय-एप्पिणु- पणवेप्पिणु ( प्रणमकर );इय-इंछिय,गणिय, विग्गासिय; इवि- फुट्टिवि, बंधिवि, भुंजिवि, विहडिवि.

क्रियार्थ क्रिया-( तुमुन् ) इवि-कहिवि ण सक्कइ,कथयितुं न शक्नोति।

## ६. अव्यय

समयसूचक-अज्जु, कल्लि, संपइ, जाम।

स्थानसूचक- इत्थु, अंतरि, बाहिरउ, जहिं-तहिं।

प्रकार सूचक- जइ-तइ, जेम, केम।

अन्य- ण, णउ, ण हु, विणु, जइं, सइं, णिरारिउ, अहवा, पुणरवि।

---

# सावयधम्मदोहा

ॐ

णमकारेपिणु पंचगुरु दूरिदलियदुहकम्मु ।
संखेवें पयडक्खरहिं अक्खमि सावयधम्मु ॥ १ ॥

दुज्जणु सुहियउ होउ जगि सुयणु पयासिउ जेण ।
अमिउ विसें वासरु तमिण जिम मरगउ कच्चेण ॥ २ ॥

जिहं समिलहिं सायरगयहिं दुल्लहुं जूयहुं रंधु ।
तिह जीवहं भवजलगयहं मणुयत्तणि संबंधु ॥ ३ ॥

सुहु सारउ मणुयत्तणहं तं सुहु धम्मायत्तु ।
धम्मु वि रे जिय तं करहि जं अरहंतइं वुत्तु ॥ ४ ॥

अरहंतु वि दोसहिं रहिउ जसु पुणु केवलणाणु ।
णाणेमुणियकालत्तयहं वयणु वि तासु पमाणु ॥ ५ ॥

---

१ द. अक्खिय. २ क. अमइं; ज. द. तमहिं. ३ द. मरगय. ४ ज. जह. ५ क. ज. द. समिला. ६ अ. सायरे. ७ ज. दुलहउ. ८ क. जूवह; द. जूअहि. ९ ज. तह. १० ज. °गयहिं. ११ क. मणुवत्तणु. १२ अ. द. अरि. १३ ज. करहि. १४ अ. द. अरहंतें. १५ क. द. जासु वि. १६ अ. ज. णाणु. १७ क. द. तस्स.

# हिन्दी अनुवाद

१. दुष्टकर्मों का नाश करने वाले पंचगुरु को नमस्कार करके मैं संक्षेप में, प्रकट शब्दों द्वारा, श्रावक-धर्म का व्याख्यान करता हूं।

नमस्कार

२. दुर्जन संसार में सुखी होवे जिसने सज्जन को प्रसिद्ध किया है, जिस प्रकार अमृत विषसे, दिन अंधकार से, व मरकत मणि कांच से [ प्रकाशित होता है ]।

दुर्जन को अशीष

३. जिस प्रकार सागर में गिरे हुए सेले के लिये जुआ का छिद्र दुर्लभ है उसी प्रकार भव-जल में पड़े हुए जीवों का मनुष्यत्व से सम्बन्ध दुर्लभ है।

मनुष्य जन्म

४. मनुष्यत्व का सार सुख है। वह सुख धर्म के अधीन है। धर्म भी, रे, जीव, वह पाल जो अरहंत का कहा हुआ है।

धर्म

५. अरहंत भी वह है जो दोषों से रहित हो व जिसे केवल ज्ञान हो। ज्ञान-द्वारा त्रिकाल को जानने वाले उनके वचन भी प्रमाण हैं।

प्रामाणिक ज्ञान

तं पावइ जिणवरवयणु गुरुउवएसें[1] होइ ।
अंधारइं विणु दीवडेइं[2] अहव कि पिंछइ कोइ ॥ ६ ॥

संजमु सीलु सउच्चु तउ जसु सूरिहि गुरु सोइ ।
दाहछेयकसघायखमु उत्तमु कंचणु होइ ॥ ७ ॥

मग्गइं गुरुउवएसियइं णर सिवपट्टणि जंति ।
तं[3] विणु वग्घहं वणयरहं चोरहं पिडि विपडंति ॥ ८ ॥

एयारहविहु तं कहिउ रे[4] जिय सावयधम्मु ।
सत्तिए परिपालंतयहं सहलउ मणुसजम्मु ॥ ९ ॥

पंचुंबरहं णिवित्ति जसु[5] वसणु[6] ण एक्कु वि होइ ।
सम्मत्तें[7] सुविसुद्धमई पढमउ सावउ सोइ ॥ १० ॥

पंचाणुव्वय जो धरइ णिम्मल गुणवय[8] तिण्णि ।
सिक्खावयइं चयारि जसु सो बीयउ मणि माण्णि ॥ ११ ॥

चउरहहं दोसहं रहिउ पुव्वाइरियकमेण ।
जिणु वंदइ संझइ तिहि मि सो तिज्जउ णियमेणं[10] ॥ १२ ॥

---

१ अ. ज. द. उवएसें. २ द. दीवड्डण. ३ ज. द. तिं. ४ ज. द. अरे. ५ अ. अट्ठउ पालइ मूलगुण. ६ अ विसणु. ७ अ. क. जो सम्मत्तविसु°. ८ ज. °मणु. ९ द वय गुण १० द. णियममण्णि.

६. गुरु — वह जिनवर का वचन गुरु के उपदेश से प्रकट होता है। अंधकार में बिना दीपक के क्या कोई कुछ पहिचान सकता है?

७. गुरु के गुण — जिस सूरि में संयम, शील, शौच और तप है वही गुरु है। दाह, छेद और कश-घात के योग्य ही उत्तम कंचन होता है।

८. गुरुपदेश — गुरु के उपदिष्ट मार्ग से नर शिवपुर को जाते हैं। उसके बिना वे व्याघ्र, वनचर और चोरों के पिंड में पड़ जाते हैं।

९. श्रावक धर्म — वह श्रावक धर्म, हे जीव, ग्यारह प्रकारका कहा गया है। शक्त्यनुसार उसका परिपालन करने वालों का मनुष्य-जन्म सफल है।

१०. दर्शन — जिसके पंच उदुम्बर से निवृत्ति है, व्यसन एक भी नहीं है तथा जिसकी मति सम्यक्त्व द्वारा सुविशुद्ध है वह प्रथम श्रावक है।

११. व्रत — जो पांच अणुव्रतों को धारण करता है और जिस के तीन निर्मल गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं उसे मनमें दूसरा [ श्रावक ] मानो।

१२. सामायिक — जो पूर्वाचार्यों के क्रमानुसार बत्तीस दोषों से रहित होकर तीनों संध्याओं में जिनदेव की वन्दना करता है वह नियम से तीसरा [ श्रावक ] है।

उहयचउद्दसिअट्ठमिहिं जो पालइ उववासु ।
सो चउत्थु सावउ भणिउ दुक्कियकम्मविणासु ॥ १३ ॥

पंचमु जसु कच्चासणहं हरियहं णाहि पवित्ति ।
मणवयकायहिं छट्ठयहं दिवसहिं णारिणिवित्ति ॥ १४ ॥

बंभयारि सत्तमु भणिउ अट्ठमु चत्तारंभु ।
मुक्कपरिग्गहु जाणि जिय णवमउ वज्जियदंभु ॥ १५ ॥

अणुमइ देइ णँ पुच्छियउ दसमउ जिणउवइट्ठु ।
एयारहमउ तं दुविहु णँ वि भुंजइ उद्दिट्ठु ॥ १६ ॥

एयवत्थु पहिलउँ बिदिउ कयकोवीणपवित्ति ।
कत्तरिलोयणिहियपिहुर सइं पुणु भोजणिवित्ति ॥ १७ ॥

ए ठाणइं एयारसइं सम्मत्तें मुक्काइं ।
हुंति ण पउमइं सरवरहं विणु पाणिय सुक्काइं ॥ १८ ॥

अत्तागमतच्चाइयहं जं णिम्मलु सद्धाणुँ ।
संकाइयदोसहं रहिउ तं सम्मत्तु वियाणुँ ॥ १९ ॥

---

१ ज. द. °हंभु. २ ज. णु. ३ द. णउ. ४ द. पहिलउ. ५ ज. द. एयारहं वि. ६ क. द. प. णिम्मलु सद्दहणु. ७ अ. क. वियाणि.

१३. प्रोषधोपवास — जो दोनों चतुर्दशी और अष्टमी को उपवास पालता है वह दुष्कृत-कर्मों का विनाश करने वाला चौथा श्रावक कहा गया है।

१४. सचित्तत्याग — पाँचवां [ श्रावक ] वह है जिसकी कभी भोजन व हरी शाक में प्रवृत्ति नहीं है। छठवें [ श्रावक ] की दिन में मन वचन और काय द्वारा नारी से निवृत्ति रहती है।

१५. ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग और परिग्रहत्याग — सातवां [ श्रावक ] ब्रह्मचारी कहा गया है। आठवां आरम्भत्यागी है। हे जीव, परिग्रह से मुक्त, दम्भ से वर्जित रहने वाले को नवमां [ श्रावक ] जानो।

१६. अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग — जो पूछने परभी अनुमति न दे उसे जिन भगवान् ने दशवां [ श्रावक ] कहा है। ग्यारहवां दो प्रकार का है जो उद्दिष्ट भोजन नहीं करता।

१७. क्षुल्लक और ऐलक — पहिला एकवस्त्रधारी, दूसरा कोपीनमात्रधारी। वह कैंची या उस्तरे से केशों को कटवाता है और स्वयं भोजन नहीं बनाता।

१८. सम्यक्त्व — ये ग्यारह स्थान सम्यक्त्व से रहित जीवों के नहीं होते। बिना पानी के सूखे सरोवरमें कमल नहीं फूलते।

१९. सम्यक्त्व लक्षण — आप्त, आगम और तत्वादिकों में जो शंकादिक दोषों से रहित निर्मल श्रद्धान है उसे ही सम्यक्त्व जानो।

संकाइय अट्ठ मय परिहरि[1] मूढा तिण्णि ।
जे छह कहिय अणायतण दंसणमल अवगण्णि ॥ २० ॥

सुणि दंसणुं जिय जेण विणु सावयगुणु ण हुँ होइ ।
जइ सामग्गिविवज्जियहं सिज्झइ कज्जु ण कोइ ॥ २१ ॥

मज्जु मंसु महु परिहरहि करि पंचुंबर दूरि ।
आयेंहं अंतरि अट्ठइं मि तस उप्पज्जइं भूरि ॥ २२ ॥

महु आसायउँ थोडउ वि णासइ पुण्णु बहुत्तु ।
वइसाणरहं तिडिक्केडउ काणणु डहइ महंतु ॥ २३ ॥

अँण्णुवइट्ठइं मण्णियइं महु परिहरियउ होइ ।
जं कीरइ तं कारियइ एहु अहाणउ लोइ ॥ २४ ॥

सेंव्वहं कुसुमेंइं छंडियइं केंरि पंचुंबरचाउ ।
हुंति विमुक्कइं मंडणइं जइ मुक्कउ अणुराउ ॥ २५ ॥

---

१ अ. क. प. परिहर. २ ज. दंसणि; अ. क. द. दंसण. ३ अ. क. वि. ४ द. आयहिं. ५ अ. क. अट्ठमि हि. ६ अ. ज. द. उप्पज्जहिं. ७ अ. क. आसादइ. ८ अ. क. थोवड वि. ९ ज. द. तिडिकउ वि. १० अ. द. अणु उवइट्ठइं; प. अणउवइट्ठइं. ११ अ. क. ज. द. सग्गइं. १२ द. कुसुमिय. १३ अ. क. ज. द. पंचुबरपरिचाउ.

२०. शंकादिक आठ ( दोष ), आठ मद और तीन मूढ़ता
दोष, मद, मूढ़ता — का परिहार करो। जो छह अनायतन कहे गये हैं
और अनायतन — उन्हे ( सम्यग् ) दर्शन के मैल जानो।

२१. हे जीव, ( सम्यग् ) दर्शन को सुनो जिसके बिना
सम्यग्दर्शन — श्रावक का गुण नहीं होता। जैसे सामग्री से विव-
र्जित मनुष्य का कोई भी कार्य नहीं सधता।

२२. मद्य, मांस, मधु का परिहार करो, पंच उदुम्बर
अष्टमूलगुण — दूर करो। इन आठों के अन्दर बहुत त्रस (जीव)
उत्पन्न होते हैं।

२३. मधु थोड़ासा भी खाया हुआ बहुतसे पुण्य का
मधु — नाश कर देता है। अग्नि का छोटासा तिलिंग भी
बड़े भारी वन को ढा देता है।

२४. दूसरों को उपदेश देने व स्वयं मानने से मधु का
मधुत्याग — परिहार होता है। जैसा ( स्वयं ) करता है
वही ( दूसरों से ) कराता है यह अहाना लोक में है।

२५. सब फूलों को छोड़कर पंच उदुम्बर का त्याग कर।
उदुम्बर-त्याग — यदि अनुराग छूट गया तो अलंकार [ आपही ]
छूट जाते हैं।

अट्ठंइं पालइ मूलगुण पियइ जिं गालिउ णीरु ।
अह चित्तें सुविसुद्धइण मुचइ सव्वु सरीरु ॥ २६ ॥

जेण अगालिउ जलु पियउ जाणिज्जइ ण पवाणु ।
जो पुणु पियइ अगालियउ सो धीवरहं पहाणु ॥ २७ ॥

आमिससरिसउ भासियउ सो अंधउ जो खाइ ।
दोहि मुहुत्तहं उप्परहिं लोणिउ सम्मुच्छाइ ॥ २८ ॥

संगें मज्जामिसरयहं मइलिज्जइ सम्मत्तु ।
अंजणगिरिसंगें ससिहिं किरणइं काला हुंति ॥ २९ ॥

अच्छउ भोयणु ताहं घरि सिद्धहं वयणु ण जुत्तु ।
ताहं समउ जें कारणइं मइलिज्जइ सम्मत्तु ॥ ३० ॥

तामच्छउ तउमंडयहं पक्कासणलित्ताहं ।
हुंतिं ण जुग्गइं सावयहं तहं भोयणु पत्ताहं ॥ ३१ ॥

चम्मच्छइं पीयइं जलइं तामच्छउ दूरेण ।
दंसणसुद्धि ण होइ तसु खद्धइ घियतिल्लेण ॥ ३२ ॥

रुहिरामिसचम्मट्ठिसुर पच्चक्खउं बहुजंतु ।
अंतराय पालउं भविय दंसणसुद्धिणिमित्तुं ॥ ३३ ॥

---

१ अ. अट्ठउ. २ ज. द. जु. ३ क. द. सव्व. ४ अ. ज. द. तं. ५ क. मयलिज्जइ. ६ ज. तहं तंडयहं; अ. क. द. तउ मंडयहं. ७ अ. क. होंति. ८ ज. द. पक्काविसउ. ९ ज. द. पालहिं. १० क. °महंतु.

२६. चित्तशुद्धि — आठों मूलगुणों का पालन करे और गाला (छना) हुआ जल पिये। चित्त के विशुद्ध होने से सब शरीर शुद्ध हो जाता है।

२७. बिना छना पानी — जिसने बिना छना पीना पिया उसने प्रमाण नहीं जाना। जो बिना छना पीता है वह धीवरों में प्रधान है।

२८. मक्खन — दो मुहूर्त के ऊपर लोनी (मक्खन) में सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। (इसलिये) वह मांस सदृश कहा गया है। वह अंधा है जो खाय।

२९. मद्यमांसभोजीका संग — मद्यमांस में रत रहने वालों के संग से सम्यक्त्व मैला हो जाता है। अंजनगिरि के संग से चन्द्र की किरणें भी काली हो जाती हैं।

३०. मद्यमांस भोजियों का परिहार — उनके घर में भोजन करना तो रहा शिष्ट लोगों को उनसे बात भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनके संग से सम्यक्त्व मैला हो जाता है।

३१. एक भोजन करने वाले तप से मंडित (मुनि) तो दूर रहे उनका भोजन पात्र श्रावकों के भी योग्य नहीं है।

३२. चर्माच्छादित जल, घृत, तैल — जो चर्माच्छादित जल पीता है उसकी तो दूरकी बात है, दर्शन शुद्धि तो उसके भी नहीं होती जो (वैसे) घी-तेल सहित खाता है।

३३. अंतराय योग्य वस्तुएं — रुधिर, मांस, चर्म, अस्थि और सुरा ये प्रत्यक्ष में ही बहुत जंतुपूर्ण हैं। हे भव्य दर्शनशुद्धि के निमित्त इनका अन्तराय पालो।

मूल-उभाली-भिसे-ल्हसुण-तुंबड-करड-कलिंगु ।
सूरण फुल्लत्थाणयाहि भक्खणिं दंसणभंगु ॥ ३४ ॥

अँण्णु जि मुंललिउ फुल्लियउ सायहुं चलियउ जं जि ।
दोदिणवासियउ दहिमहिउ ण हु भुंजिजइ तं जि ॥ ३५ ॥

वेदलमीसिउ दहिमहिउ जुत्तु ण सावय होइ ।
खद्धइं दंसणभंगु पर सम्मत्तु वि मइलेइ ॥ ३६ ॥

तंबोलोसहु जलु मुइवि जें अत्थमियइं सूरि ।
भोग्गासणु फलु अहिलसिउँ तें किउ दंसणु दूरि ॥ ३७ ॥

जूएं धणहु ण हाणि पर वयहं मि होइ विणासु ।
लग्गउ कट्ठु ण डहइ पर इयरइं डहइ हुवासु ॥ ३८ ॥

जइ देखवउ छड्डियउँ[12] ता जिय छड्डिउ जूउँ[13]
अह अग्गिहिं उल्हावियइं अवसें ण उट्ठइ धूउ ॥ ३९ ॥

दय जि मूलु धम्मंघिवहु सो उप्पाडिउ जेण ।
दलफलकुसुमहं कवण कह आमिसु भक्खिउ तेण ॥ ४० ॥

---

१ अ. क. थिस. २ क. भक्खु ण. ३ ज. दंसणि. ४ अ. ज. द. अणु. ५ ज. द. मुललिउ. ६ अ. क. सायहं. ७ द. दिणि. ८ ज. द. ओ. ९ अ. भुंगासणु; क. द. पुग्गासणफलु. १० ज. द. अहिलसइ. ११ अ जूवें. १२ अ. क. अह छंडिउ वइ देखिवउ. १३ क. ता छंडिउ तुहुं जूउ. १४ अ. क. अवसि.

३४. मूली आदि अभक्ष्य — मूली, उनाली (?), बिस (कमलतन्तु), [illegible], तुंबा, करड, कालिंग, सूरण व फूलस्थानों के भक्षण से दर्शन भङ्ग होता है।

३५. अन्य अभक्ष्य — अन्य भी जिसमें जड़ें निकल आई हों, व फूल आगये हों व जो स्वाद से चलित होगया हो, व दो दिन का बासा दही मही भी नहीं खाना चाहिये।

३६. द्विदल — द्विदलमिश्रित दही मही श्रावकों के योग्य नहीं होता। इसके खाने से दर्शन का भङ्ग और सम्यक्त्व मैला होता है।

३७. रात्रिभोजन — ताम्बूल, औषध और जल को छोड़कर, सूर्यास्त के पश्चात् जिसने भोजन या फलाहार की अभिलाषा की उसने दर्शन को दूर कर दिया।

३८. द्यूत — जुंआ से धन ही की हानि नहीं होती पर व्रतों का भी विनाश होता है। अग्नि केवल जिस काठ में लगे उसे ही नहीं जलाती किन्तु दूसरों को भी ढा देती है।

३९. द्यूतत्याग — यदि देखना तक छोड़ दिया तो, हे जीव, द्यूत सचमुच छूटा। अग्नि के जलसे शमन कर देने पर अवश्य धुंआ नहीं उठता।

४०. दया — दया ही धर्मवृक्ष का मूल है। इसे जिसने उपाट डाला उसने दल, फल, कुसुम की कौन कथा मांस भक्षण कर लिया।

पुट्ठिमंसु जइ छड्डियउ ता जिय छड्डिउ मंसु ।
जहे अप्पत्थें वारियइं वारिउ वाहिपवेसु ॥ ४१ ॥

मुहु वि लिहिवि सुत्तउं सुणहु एहुं जि मज्जहु दोसु ।
मत्तउ बहिणिहिं अहिलसइ तें तहुं णरयपवेसु ॥ ४२ ॥

मज्जु मुक्कुं मुकइं मयइं अण्णु जि वेसा मुक्क ।
जइ वाहिहिं विणिवारियहिं[7] वेयण होइ ण इक्क ॥ ४३ ॥

वेसहिं लग्गइ धणियधणु तुट्टई बंधउ मित्तुं ।
मुच्चइ णरु सव्वहं गुणहं वेसाघरि[10] पइसंतु ॥ ४४ ॥

कामकहंइं[11] परिचत्तियइं जिय दारिय परिचत्त ।
अह कंदइं उप्पाडियइं वेल्लिहिं पत्त समत्त ॥ ४५ ॥

पाराद्धिउं[12] पराणिग्घिणउ हणइं[13] णिरारिउ जेण ।
भयभग्गा जियगहियतण णरयहुं[14] गच्छइ तेण ॥ ४६ ॥

मुक्क सुणहमंजरपमुह जइ मुक्की पाराद्धि ।
बीयइं रुद्धइं पाणियइं रुद्धी अंकुरलाद्धि ॥ ४७ ॥

---

१ क. ज. द. जहिं. २ अ. क. द. मुत्तइं. ३ अ. ण हु ण. ४ द. बाहिणहि; अ. ज. बहिणि जि. ५ अ. क. तह. ६ अ. क. मज्ज मुक्क. ७ क. द. °इं. ८ द. तुट्टउ. ९ अ. क. बंधवमित्त. १० अ. क. द. °गिहि. ११ अ. क. कामकहा° १२ ज. पारिद्धिउ. १३ अ. हणिउ. १४ अ. क. णिरयह.

४१. मांसत्याग — पृष्ठमांस यदि छोड़ दिया तो, हे जीव, मांस छोड़ा। जैसे अपथ्य के निवारण से व्याधिप्रवेश का निवारण हो जाता है।

४२. मद्यदोष — वार वार लिख लिख कर इस सूत्र को सुनो। मद्य का यह दोष है कि मत्त (पुरुष) अपनी बहिन की भी अभिलाषा करने लगता है इससे उसका नरक में प्रवेश होता है।

४३. मद्यत्याग — मद के छोड देने से मद्य भी छूट जाता है और वेश्या भी छूट जाती है, जिस प्रकार कि व्याधि के निवारण हो जाने से एक भी वेदना नहीं रहती।

४४. वेश्यादोष — धनिकों का धन वेश्या में लगता है। बंधु मित्र सब छूट जाते हैं। वेश्या के घर प्रवेश करने वाला नर सब गुणों से मुक्त हो जाता है।

४५. वेश्यात्याग — कामकथा के परित्याग से, हे जीव, दारिका (वेश्या) का भी परित्याग हो जाता है। कंद के उपाट देने पर वेला के पत्र समाप्त हो जाते हैं (स्वयं सूख जाते हैं)।

४६. आखेटदोष — शिकारी बड़ा निर्दयी है जो भय से भागे हुए, जीभ में तृण दबाये हुए (मृगों) का वध करता है। इससे वह नरक को जाता है।

४७. आखेटत्याग — यदि शिकार खेलना छोड दिया तो कुत्ता बिल्ली आदि भी छूट गये। बीज में पानी की रोक कर देने से अंकुरलब्धि का अवरोध हो जाता है।

चोरी चोर हणेइ पर बहुयकिलेसहं खाणि ।
देइ अणत्थु कुडुंबहं[1] मि गोत्तहुं[2] जसधणहाणि ॥ ४८ ॥

मुक्कहं कूडतुलाइयहं चोरी मुक्की होइ ।
अह व वणिज्जइं छंडियइं[3] दाणु ण मग्गइ कोइ ॥ ४९ ॥

परतिय बहुबंधण[4] ण परें अण्णु वि णरयणिसेणि[5] ।
विसकंदलि मारइ णं[6] पर करइ वि पाणहं हाणि ॥ ५० ॥

जइ अहिलासु णिवारियउ ता वारिउ परयारु ।
अह णाइकें[7] जित्तइणं जित्तउ सयलु खंधारु ॥ ५१ ॥

वसणइं तावइं छंडि जिय[8] परिहरि[9] वसणासत्तं[10] ।
सुक्केहं[11] संसग्गें हरिय पेक्खह तरु डज्झंतं[12] ॥ ५२ ॥

मूलगुणा इय एत्तडइं[13] हियवइ थक्कइं[14] जासु ।
धम्मु अहिंसा देउ जिणु रिसि गुरु दंसणुं[15] तासु ॥ ५३ ॥

---

१ अ. द. कुडंबह. २ अ. क. गोत्तहु. ३ क छेडियइं. ४ 'बहुबंधणपयर' भी पढा जा सकता है । ५ क. णिरय°. ६ ज. णि. ७ अ. क. इक्कें रायहं जित्तियहं. ८ ज. द. ताव छंडु जिय. ९ अ. परिहर. १० अ. क. प. वसणासत्ति. ११ अ. क. सुक्कहं. १२ क. द. डज्झंति. १३ अ. द. इत्तडउ, क. उत्तडउ. १४ क. थक्कउ. १५ द. दंसण.

४८. चोरी-दोष
चोरी चोर का तो हनन करती ही है पर और भी बहुत से क्लेशों की खानि है। वह कुटुम्ब का भी अनर्थ करती है और गोत्र के यश और धन का नाश कर देती है।

४९. चोरी-त्याग
कूट तुलादि के छोड देने पर चोरी छूटती है। वाणिज्य के छोड देने पर कोई दान नही मांगता।

५०. परस्त्री-दोष
परस्त्री बहुत बन्धन ही नही परंतु वह नरक-नसेनी भी है। विष-कंदली मूर्च्छित ही नही करती, किन्तु प्राणों की भी हानि कर डालती है।

५१. परस्त्री त्याग
यदि अभिलाष का निवारण होगया तो परदारा का त्याग हुआ। नायक के जीत लेने पर समस्त स्कंधावार (सेना) पर विजय होजाती है।

५२. व्यसनी मनुष्यों का परिहार
व्यसन तब छूटेंगे, हे जीव, जब व्यसनों में आसक्त (मनुष्यों) का परिहार करे। सूखों के संसर्ग से, देखो, हरे वृक्ष भी दा जाते हैं।

५३. सम्यग्दर्शन की पूर्णता
इस प्रकार ये मूल गुण जिसके हृदय में वास करते हैं, व जिसका धर्म अहिंसा, देव जिन और गुरु ऋषि है उसीका [ सम्यग् ] दर्शन है।

**दर्शन से दोष-नाश.**

५४. जिसके दर्शन है उस मनुष्य के दोष नाश को प्राप्त होजाते हैं। जिस प्रदेश में गरुड़ निवास करता है वहां क्या विषधर ठहर सकते हैं?

**दर्शन के बिना तप निष्फल है.**

५५. दर्शन से रहित होकर जो तप करते हैं उनकी निष्ठा निष्फल है। बिना बीज के, कहो, कहीं अन्न के भार से झुकी हुई खेती देखी गई है?

**दर्शनशुद्धि से व्रतनिष्ठा.**

५६. जो दर्शनशुद्धि से शुद्ध हुए हैं उनके सब व्रतों की निष्ठा होती है। बिना तुरटी (फिटकरी) लगाये कपड़े पर मंजीठ का रंग कैसे चढ़ सकता है?

**दर्शन के बिना सुख नहीं.**

५७. दर्शनभूमि से बाहिर, हे जीव, व्रतरूपी वृक्ष नहीं होते, और बिना व्रतवृक्षों के सुखफल आकाश से तो पड़ेंगे नहीं।

**दर्शन और धर्मागम.**

५८. यदि दर्शन रूपी फलक हृदय में निश्चल होगया, तो उसपर व्रत रूपी पांसों को डालो। फिर, हे जीव, चंचल धन को आने दो।

**बारह व्रतों से मोक्ष-प्राप्ति.**

५९. अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत सब मिलकर बारह होते हैं। वे मनुष्य और देवलोक के सुखों का उपभोग कराकर जीव को निर्वाण तक पहुंचा देते हैं।

मणवयकायहिँ दय करहि जेम ण ढुकइ पाउ ।
उरि सण्णाहेँ बद्धइण अवसि ण लग्गइ घाउ ॥ ६० ॥

अलिय कसायहिँ मा चवहि अलिएं गउ वसुराउ ।
जहिं णिविट्ठु सासंडु तहँ डालहँ होइ पमाउँ ॥ ६१ ॥

णासइ धणु तसु घरतणउ जो परदव्वु हरेइ ।
मेहिं कवेडउ पेक्खियउ काइं ण काइं करेइ ॥ ६२ ॥

माणइं इंछिय परमहिल रामणु सीय विणट्ठु ।
दिट्ठिहिं मारइ दिट्ठिविसु ता को जीवइ दट्ठु ॥ ६३ ॥

पसुधणधण्णइं खेत्तियइं करि परिमाणपवित्ति ।
वलियइं बद्धयइं बंधणइं दुक्करु तोडहुं जंति ॥ ६४ ॥

भोगहं करहि पमाणु जिय इंदिय म[13] करि सदप्प ।
हुंति ण भल्ला पोसिया दुद्धें काला सप्पें ॥ ६५ ॥

---

१ अ. क. कायहं. २ द. कर. ३ अ. ज. द. अवस. ४ अ. क. णिविट्ठु सासंड, प. भासंड. ५ क. द. तहिं. ६ क. द. डालइ. ७ अ. पपाउ; क. पसाउ. ८ ज. कवडउ. ९ ज. रावणु द. रामणसीय. १० अ. विणट्ठि. ११ क. ज. करहि. १२ प. दुक्कर तोडइं; अ. क. तोडइं. १३ ज. करिसि दप्पु. १४ ज. सप्पु.

६०. मन, वचन और काय से दया कर जिससे पाप न
दया आवे। उर में कवच बांधने से अवश्य घाव नहीं लगता।

६१. कषाय से असत्य मत बोल। असत्य से वसुराजा
असत्य गया। जिस शाखा पर शाखारंड (द्रोही) बैठा उस शाखा का सत्यानाश हुआ।

६२. जो परद्रव्य का हरण करता है उसके घर का धन
चोरी भी नष्ट हो जाता है। गृह में कपट का प्रवेश कराया। वह क्या क्या नहीं करेगा।

६३. मान के कारण पराई स्त्री, सीता, की इच्छा करने
परस्त्री से रावण का नाश हुआ। दृष्टिविष (सर्प) दृष्टिमात्र से मार डालता है, डसे जाने पर तो कौन जी सकता है।

६४. पशु, धन, धान्य, खेती इनमें परिमाण से प्रवृत्ति
परिग्रह कर। बन्धनों में बहुत बल (आंटे) होने से उनका तोड़ना दुष्कर हो जाता है।

६५. हे जीव, भोगों का भी प्रमाण रख। इन्द्रियों को
भोगों का प्रमाण बहुत अभिमानी मत बना। काले सांपों का दुग्ध से पोषण करना अच्छा नहीं होता।

दिसि विदिसिहिं परमाणु करि जियवहु जाँवइ जेण ।
मोकलियेंइं आसागयइं संजमु पलिउ तेण ॥ ६६ ॥

लोहुं लक्ख विसु सणु मयणु दुद्धमरणु पसुभारु ।
छंडि अणत्थहं पिंडि पिंडिउ किमि तरिहिंहि संसारु ॥६७॥

संझा तिहिं मि समाइयेंइं उप्पजइं बहुपुण्णु ।
कालि वरिहइं भंति कउ जँइ उप्पज्जइ धण्णु ॥ ६८ ॥

चिरकियेकम्मइं खउ करइ पव्वादिणेहि उववासु ।
अहवा सोसइ सरसलिलु भंति ण किंभि दिणेसु ॥ ६९ ॥

पत्तइं दिज्जइ दाणु जिय कौलि विहाणइं तं पि ।
अह विहिविरहिउ वावियउ बीउ वि फलइ ण किं पि ॥७०॥

सण्णासेण मरंतयहं लब्भइ इच्छियलद्धि ।
इत्थुं ण कायउ भंति करि जँहिं साहसु तहिं सिद्धि ॥७१॥

---

१ ब. आइय. २ अ. द. मोकलियाहिं आसागयाहिं. ३ अ. लोह लाख. ४ अ. क. तरिहसि; ब. तरिसहि. ५ ज. समाइयहं. ६ अ. धरिट्ठउ; क. परिट्ठउ. ७ अ. क. द. जहिं. ८ अ. उपज्जइ बहु धम्मु; ब. धम्मु. ९ ज. कय. १० अ. क. खय; ज. खइ. ११ अ. क. दिणह; ज. दिणई. १२ अ. क. ज. कालविहाणें. १३ क. द. इत्थि. १४ क. जह साहस तह सिद्धि.

६६. दिग्व्रत — दिशा-विदिशाओं (में जाने) का भी प्रमाण कर। इससे जीववध होता है। जिसने अन्याओं में आना छोड़ दिया उसने संयम का पालन किया।

६७. अनर्थत्याग — लोहा, लाख, विष, सन, मैन, दुष्टभरण और पशुभार इनको छोड़। अनर्थों के पिंड में पड़कर किस प्रकार संसार को तरेगा?

६८. सामायिक — तीनों संध्याओं में सामायिक करने से बहुत पुण्य उत्पन्न होता है। यदि समय पर वर्षा होने से धान्य उत्पन्न हो तो इसमें भ्रान्ति क्या है?

६९. पर्वोपवास — पर्व के दिन का उपवास चिरकाल के किये हुए कर्मों का क्षय करता है। ग्रीष्म में सूर्य सरोवर के जल को सुखा देता है, इसमें भ्रान्ति नहीं।

७०. पात्रदान — हे जीव, पात्रों को दान देना चाहिये, वह भी समय पर और विधि सहित। बिना विधि के बोया हुआ बीज कुछ भी फल नहीं देता।

७१. सन्यासमरण — सन्यास से मरण करने वालों को यथेच्छ लाभ होता है, इसमें कुछ भी भ्रान्ति न कर। जहां साहस तहां सिद्धि।

ए बारह वय जो करइ सो गच्छइ सुरलोउं[1] ।
सहसण्णयणु परणिंदु जहिं वण्णइ ताहं विओउं[3] ॥ ७२ ॥

आउसंति सग्गहं[4] चइवि उत्तमवंसहं हुंति ।
भुंजिवि हरिबलचक्किसुहुं[5] पुणु तवयरणु[6] करंति ॥ ७३ ॥

उक्किट्ठइं विहिं तिहिं भवहिं भुंजिवि सुरणरसोक्खु[7] ।
जंति जहण्णइं धुणियरयं[8] भवि सत्तट्ठमि मोक्खु ॥ ७४ ॥

संगचाउ जे करहिं जिय ताहं ण वय भज्जंति ।
अह[10] किं लग्गहिं चोरडा जे दूरें णासंति ॥ ७५ ॥

एहु धम्मु जो आयरइ[11] बंभणु सुद्दु वि कोइ ।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि[12] मणि होइ ॥७६॥

मज्जु मंसु महु परिहरइ[13] संपइ सावउं[14] सोइ ।
णीरुक्खइ एरंड वणि किं ण भवाई होइ ॥ ७७ ॥

१ क. ज. एयारह. २ ज. सुरलोइ. ३ ज. विओइ. ४ अ. क. सग्गह. ५ क. °सुह. ६ द. तवयरणि. ७ क. द. सुक्खु. ८ द. धणियरया. ९ अ. क. भवसत्तट्ठइं. १० अ. क. द. अहव कि लग्गहिं; °क. लग्गइ. ११ क. आयरहि. १२ क. द सिरमणि. १३ क. द. परिहरहु; ज. परिहरहि. १४ क. सावय.

७२. ये [illegible] व्रत को करता है वह सुरलोक को जाता है जहां सहस्रनयन [इन्द्र] और धरणेन्द्र भी उसके भोगों का वर्णन करते हैं।

व्रतपालन का फल

७३. आयु के अन्त में स्वर्ग को छोड़कर उत्तमवंश में उत्पन्न होते हैं, और हरि, बलभद्र व चक्रवर्ती के सुख भोगकर पुनः तप करते हैं।

दूसरे जन्म के सुख

७४. उत्कृष्ट ( भव्य ) दो तीन भव में सुरनर-सुख भोग कर, व जघन्य सात आठ भव में, कर्मरज को दूर करके मोक्ष को जाते हैं।

कुछ भवों के पश्चात् मोक्ष

७५. जो जीव संगत्याग कर देते हैं उनके व्रत भङ्ग नहीं होते। क्या उनको चोर लग सकते हैं जो दूर से भाग जाते हैं?

संगत्याग

७६. इस धर्म का जो आचरण करता है, ब्राह्मण चाहे शूद्र, कोई भी हो, वही श्रावक है। और क्या श्रावक के सिर पर कोई मणि रहता है?

श्रावकलक्षण

७७. जो मद्य, मांस और मधु का त्याग करे आजकल वही श्रावक है। क्या बड़े वृक्षों से वेष्टित एरण्ड वन में छांह नहीं होती?

आजकल श्रावक

सावयधम्महं सयलहं मि दाणु पहाणु सुवुत्तु ।
तं दिज्जइ विणएण सहुं बुज्झिवि पत्तु अपत्तु ॥ ७८ ॥

उत्तमपत्तु मुणिंदु जगि मज्झिमु सावउ सिट्ठु ।
अविरयसम्माइट्ठि जणु पभणिउ पत्तु कणिट्ठु ॥ ७९ ॥

पत्तहं जिणउवएसियहं तीहिं मि देई जु दाणु ।
कल्लाणइं पंचइं लहिवि भुंजइ सोक्खणिहाणु ॥ ८० ॥

दंसणरहियकुपत्ति जइ दिण्णइ ताह कुभोउ ।
खारघडेइं अह णिवडियउ णीरु वि खारउ होइ ॥ ८१ ॥

हयगयसुणहहं दारियहं मिच्छादिट्ठिहिं भोय ।
ते कुपत्तदाणंधिवहं फल जाणहु बहुभेय ॥ ८२ ॥

तं अपत्तु आगंमि भणिउ णउ वयदंसणं जासु ।
णिप्फलु दिण्णउ होइ तसु जेह ऊसरि कउ सासु ॥ ८३ ॥

हारिउ तें धणु अप्पणउ दिण्णु अपत्तहं जेण ।
उप्पहिं चोरेहं अप्पियउ खोजु ण पत्तउ केण ॥ ८४ ॥

---

१ द. उत्तिम°; ज. उत्तिमु. २ ज. तहें मि. ३ क. देउ. ४ अ. ज. कुपत्त. ५ अ. क. °घडे. ६ क. द. तहमेय. ७ क. आगम°. ८ अ. क. ज. °दंसणु. ९ अ. क. द. जहिं. १० द. सस्सु; प. सस्सु. ११ द. चोरहिं.

७८. श्रावकों के सब धर्मों में दान प्रधान कहा गया
दान की प्रधानता है। इसे पात्र अपात्र का विवेक करके, विनय
सहित देना चाहिये।

७९. जगत् में उत्तम पात्र मुनीन्द्र और मध्यम श्रावक
तीन पात्र कहा गया है। अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष कनिष्ठ
पात्र कहा गया है।

८०. जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट तीनों प्रकार के पात्रों
पात्रदान को जो दान देता है वह पंच कल्याण का लाभ
का फल करके सुखनिधान का उपभोग करता है।

८१. दर्शन रहित कुपात्र को यदि दान दिया जाता है
कुपात्रदान तो उससे कुभोग प्राप्त होता है। खारे घड़े में
का फल डाला हुआ जल भी खारा हो जाता है।

८२. घोड़े, हाथी, कुत्ता व वेश्याओं के भोग मिथ्या-
दृष्टियों के भोग हैं। इन्हे कुपात्रदान रूपी वृक्ष के
नाना प्रकार के फल जानो।

८३. आगम में उसे अपात्र कहा है जिसके व्रत व
अपात्रदान दर्शन नही है। उसे दिया हुआ दान निष्फल होता
की निष्फलता है, जैसे ऊसर जमीन की खेती।

८४. जिसने अपात्र को दान दिया उसने अपना धन
खोया। उपत कर चोरों को दिये हुए धन का
खोज किस ने पाया है?

इक्कु वि तारइ भवजलहि बेहु दायार सुपत्तु ।
सुपरोहणु एक्कु वि बहुय दीसइ पारहु णिंतु ॥ ८५ ॥

दाणु कुपत्तहं दोसडइ बोल्लिज्जइ ण हु भंति ।
पत्थरु पत्थरणाव कहिं दीसइ उत्तारंति[2] ॥ ८६ ॥

जइ गिहत्थु दाणेण विणु जगि पभणिज्जइ कोइ ।
ता गिहत्थु पंखि वि हवइ[3] जें घरु ताह वि होइ ॥ ८७ ॥

धम्मु करउं[4] जइ होइ धणु इहु दुव्वयणु म बोल्लि ।
हक्कारउ जमभडतणउ आवइ अज्जु कि कल्लि ॥ ८८ ॥

काइं बहुत्तइं संपयइं[5] जइं[6] किविणहं घरि होइ ।
उँवहिणीरु[7] खारें भरिउ पाणिउ पियइ[8] ण कोइ ॥ ८९ ॥

पत्तहं दिण्णउ थोवडउ[9] रे जिय[10] होइ बहुत्तु ।
वडह बीउ धरणिहिं पडिउ वित्थरु लेइ महंतु ॥ ९० ॥

धम्मसरूवें[11] परिणवइ चाउ वि पत्तहं दिण्णु ।
साइयजलु सिप्पिहिं गयउ मुत्तिउ होइ रवण्णु ॥ ९१ ॥

---

१ द. तारइ तीर. २ क. में यह दोहा नहीं है. ३ अ. ज. द. हवहिं. ४ अ. क. करहुं. ५ अ. क. संपदइं. ६ ज. द. जा. ७ ज. द. सायरणीरु खारें भरिए. ८ अ. पिवइ. ९ अ. द. थोअडउ. १० ज. द. वियरिय. ११ अ. क. सरूवइं.

८५. सुपात्रदान की महिमा — एक ही सुपात्र अनेक दाताओं को भवसमुद्र से तार देता है। अच्छी एक ही नौका बहुतों को पार लगाती देखी जाती है।

८६. कुपात्रदान का दोष — कुपात्र का दान दोष पूर्ण कहा गया है इसमें भ्रान्ति नहीं। पत्थर की नाव पत्थर को पार उतारती कहीं देखी गई है ?

८७. दान के विना गृहस्थ नहीं — यदि दान के विना भी जगत् में कोई गृहस्थ कहलावे तो पक्षी भी गृहस्थ होगया क्योंकि घर तो उसके भी होता है।

८८. मौत का अनिश्चय — 'यदि धन होजाय तो धर्म करूं' ऐसे दुर्वचन मत बोल। यमदूत का हल्कारा आज आजाय कि कल।

८९. कृपण की सम्पत्ति — बहुत सम्पत्ति से भी क्या यदि वह कृपण के घर हुई। समुद्र का जल खार से भरा है। उसका पानी तक कोई नही पीता।

९०. पात्रदान थोडा भी बहुत है — हे जीव, पात्र को दिया हुआ थोड़ा भी बहुत होता है। वट का बीज भूमि में पड़कर भारी विस्तार ले लेता है।

९१. पात्रको दिया हुआ दान धर्म स्वरूप परिणमित होता है। स्वातिजल सीप में पड़कर रमणीय मोती बन जाता है।

जं दिज्जइ तं पावियइ ऍउ ण वयणु विसुद्धु ।
गाइ पइ[2]ण्णइ खडभुसइं किं ण पयच्छइ दुद्धु ॥ ९२ ॥

जो घरि हुंतइं धणकणइं मुणिहि कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मि दालिद्दडउ पुट्ठि ण तहु छंडेइ ॥ ९३ ॥

कहिं भोयण सहुं मिट्टी[4]डी दिण्णु कुभोयणु जेण ।
हुंतइं बीयइं घरि पउर वविय बबूलइं तेण ॥ ९४ ॥

जं जिय दिज्जइ इत्थुभवि तं लब्भइ परलोइ ।
मूलें सिंचइ तरुवरहं फलु डालहं[5] पुणु होइ ॥ ९५ ॥

पत्तइं दाणइं[6] दिण्णइण मिच्छादिट्ठि वि[7] जंति ।
उत्तमाइं भोयावणिहिं[8] इच्छिउं[9] भोउ लहंति ॥ ९६ ॥

कम्मुं[10] ण खेत्तिय सेव जहिं णउ वाणिज्जपयासु ।
घरि घरि दस कप्पयर जहिं ते पूरेहिं[11] अहिलासु ॥ ९७ ॥

किं किं देइ ण धम्मतरु दाणसलिलसिंचंतु ।
जइ मिच्छत्तहुयासणहु रक्खिजइ डज्झंतु ॥ ९८ ॥

---

१ अ. क. पहउ वयणु विरुद्धु. २ ज. पयणइं. ३ ज. द सिहु. ४ अ. क. भेटडी. ५ क. डालहु. ६ क. दिण्णइं दाणइण. ७ ज. °हिं. ८ अ. क भोयवणि वि. ९ क. इच्छिय भोय. १० अ. क. कम्म. ११ क. पूरइं; ज. पूरिहिं.

९२. 'जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है' यह वचन उपयुक्त नही है। गाय को घास-भुसा खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नही देती ?

९३. जो घर में धनधान्य होते हुए भी मुनि को कुभोजन देता है, जन्म जन्म दारिद्र्य उसका पीछा नही छोड़ता।

कुभोजन–दान का फल

९४. उसकी भोजन से भेंट कहां जिसने कुभोजन दिया। घर में अच्छा बीज होते हुए भी उसने बबूल बोये।

९५. हे जीव, जो कुछ इस भव में दिया जाता है वही परलोक में प्राप्त होता है। वृक्ष की मूल सींचने से ही डाल में फल लगता है।

दान से परलोक में सुख

९६. पात्रों को दान देने से मिथ्यादृष्टि भी उत्तम भोगभूमि को जाते हैं और इष्टभोग पाते हैं।

पात्रदान से भोग-भूमि के सुख

९७. जहां ( भोगभूमि में ) न खेती व सेवा का काम है और न वाणिज्य का प्रयास है। जहां घर घर दश कल्पवृक्ष हैं जो अभिलाषाओं को पूरी करते हैं।

९८. दान सलिल से सींचे जाने पर धर्मतरु क्या क्या नही देता, यदि मिथ्यात्वरूपि अग्नि से उसे जलने से बचाया जाय।

दान से धर्मवृद्धि और इष्टलाभ

धम्मु करंतहं होइ धणु इत्थु ण कायउ भंति ।
जलु कड्ढंतहं कूवयहं अवसइं सिरउ वहंति ॥ ९९ ॥

धम्महु धणु परिहोइ थिरु विग्घइं विहडिवि जंति ।
अह सरवरु अत्थिणइं रहिउ फुट्टिवि जाइ तडत्ति ॥ १०० ॥

धम्में सुहु पावेण दुहु एउ पसिद्धउ लोइ ।
तम्हा धम्मु समायरहि जें हियइंछिउ होइ ॥ १०१ ॥

धम्में जाणहिं जंति णर पावें जाण वहंति ।
धरयर गेहोवरि चढहिं कूवखणय तलि जंति ॥ १०२ ॥

धम्में इक्कु वि बहु भरइ सइं भुक्खियउ अहम्मु ।
वडु बहुयहं छाया करइ तालु सहइ सइं घम्मु ॥ १०३ ॥

काइं बहुत्तइं जंपियइं जं अप्पहु पडिकूलु ।
काइं मि परहु ण तं करहि एहु जि धम्महु मूलु ॥ १०४ ॥

सत्थसएण वियाणियहं धम्मु ण चढइ मणे वि ।
दिणयरसउ जइ उग्गमइं घूयडु अंधउ तो वि ॥ १०५ ॥

---

१ अ. क. काइं म भंति; द. काइं भणंति. २ ज. वहंति; द. वहुंति. ३ अ. क. परहोइ. ४ अ. अत्विणय. ५ अ. क. एहु. ६ क. धम्म समायरह जिह हियइच्छिय. ७ अ. क. द. जाणइं; ८ द. ण. हुंति. ९ क. खणे. १० अ. क. द. बहुयइं. ११ ज. घुम्मु; १२ ज. °सएहिं. १३ द. चडइ. १४ अ. उग्गमहि. १५ अ. क. घूयउ.

९९. धर्म करने वालों के धन होता है इसमें भ्रान्ति न करना चाहिये। कूप से जल काढ़ने वालों के सिर पर अवश्य घड़ा होता है।

धर्म से धन प्राप्ति

१००. धर्म से धन स्थिर होता है और विघ्न विघट जाते हैं। पार से रहित सरोवर तड़ से फूट जाता है।

धर्म से धन की स्थिरता

१०१. 'धर्म से सुख, पाप से दुख' यह लोक में प्रसिद्ध है। इसलिये धर्म कर जिससे मनोवाञ्छित प्राप्त हो।

धर्म से सुख

१०२. धर्म से नर यानों द्वारा जाते हैं और पाप से यानों का वहन करते हैं। घर बनाने वाले घरके ऊपर चढ़ते हैं और कुआ खोदने वाले नीचे को जाते हैं।

धर्म का सुफल, पाप का दुष्फल

१०३. धर्म से एक ही बहुतों का भरण पोषण करता है और अधर्मी स्वयं भूखा रहता है। वट बहुतों पर छाया करता है और ताल स्वयं घाम सहता है।

धर्म की शक्ति

१०४. बहुत कहने से क्या, जो अपने प्रतिकूल हो उसे कभी दूसरों के प्रति भी मत करो। यही धर्म का मूल है।

धर्म का मूल

१०५. सौ शास्त्रों को जान लेने से भी विपरीत ज्ञान वाले के मन पर धर्म नहीं चढ़ता। यदि सौ सूर्य भी ऊग आवें तो भी घुग्घू अंधा ही रहेगा।

विपरीत ज्ञानी

पोट्टहं लग्गिवि पावमइ करइ परत्तहं दुक्खु ।
देउलें लग्गियं खिल्लियइं किण्ण पलोट्टइं मुक्खु ॥ १०६ ॥

छुडु सुविसुद्धियँ होइ जिय तणुमणवयसामग्गि ।
धम्मु विढप्पइ इँत्तियइं धणहं विलग्गउ अग्गि ॥ १०७ ॥

मुणि वयणइं झायहि मणइं जिणु भुवणत्तयबंधु ।
कायँइं करि उववासु जिय जें खुट्टइ भवसिंधु ॥ १०८ ॥

होइ वणिज्जु ण पोट्टलिहिं उववासहिं णउ धम्मु ।
एहु अँहाणउ सो चवइ जसु कउ भारिउ कम्मु ॥ १०९ ॥

पोट्टलियइं मणिमोत्तियइं धणु कित्तियँहिं ण माइ ।
[14]बोरिहिं भरिउ बलद्दडा तं णाही जं खाइ ॥ ११० ॥

उववासहु इक्कहु फलइं संबोहियपरिवारु ।
णायदत्तु दिवि देउ हुउ पुणरवि णायकुमारु ॥ १११ ॥

तें कज्जें जिय पँइं भणिउ करि उववासब्भासु ।
जाम ण देहकुडिल्लियइं ढुक्कइ मरणहुयासु ॥ ११२ ॥

---

१ अ. देउलि. २ ज. लग्गिवि. ३ ज. कीलियहिं. ४ प. पइट्टइ. ५ अ. क. ज. सुविसुद्धइ. ६ द. °वयणे समग्गि. ७ अ. क. तित्तियइं. ८ ज. द. वयणिं. ९ क. झाइय मणह. १० ज. कायहं. ११ ज. पोट्टिलिहिं. १२ ज. अयाणउ. १३ अ. कित्तयहिं १४ अ. क. वोरिय. १५ ज. पइं. १६ ज. उववासु सपासु.

१०६. पेट के लिये भी पापमति दूसरों को दुख पहुंचाता है। देवल में लगी हुई खीलियों को मूर्ख क्यों नहीं पलोटता ?

पेट के लिये पाप

१०७. यदि, हे जीव, तन, मन और वचन की सामग्री विशुद्ध होय तो इतने से ही धर्म बढता है। धन में आग लगने दे।

मन-वचन-काय की शुद्धि

१०८. त्रिभुवन-बन्धु जिन भगवान् का वचनों से कीर्तन कर, मन से ध्यान कर, और काय से उपवास कर, जिससे, हे जीव, भवसिंधु छुटे।

ध्यान, कीर्तन और उपवास

१०९. वाणिज्य पोटली से नहीं होता। उपवास से धर्म नहीं होता। यह अहाना वह कहता है जिसने भारी (दुष्) कर्म किया है।

उपवास की वाणिज्य से उपमा

११०. मणि और मोतियों की पोटली में धन कितना है इसका मान नहीं रहता। बैल भरे बेरों का तो कोई खाने वाला भी नहीं है।

१११. एक ही उपवास के फल से परिवार का सम्बोधन करके नागदत्त स्वर्ग में देव हुआ और फिर नागकुमार।

उपवास-फलका उदाहरण

११२. इसीलिये, हे जीव, तुझसे कहता हूं कि उपवास का अभ्यास कर, जबतक कि देह रूपी कुंड में मरण की आग नहीं पडी।

उपवास का अभ्यास

धम्मु विसुद्धउ तं जि पर जं किज्जइ काएण ।
अहवा तं धणु उज्जलउ जं आवइ णाएण ॥ ११३ ॥

णिद्धणमणुयह कट्ठडा संजमि उणय[1] दिंति ।
अह उत्तमपइ जोडिया जिय दोस वि गुण हुंति ॥ ११४ ॥

णियमविहूणह[2] णिद्धणी जीवह णिप्फल होइ ।
अणबोह्लियउ[3] कि पावियइ दम्मकलंतरु[4] लोइ ॥ ११५ ॥

जो वयभायणु सो जि तणु किं किज्जइ इयरेण ।
तं सिरु जं[5] जिणमुणि णवइ रेहइ[6] भत्तिभरेण ॥ ११६ ॥

दाणच्चणविहि जे करहिं ते जि सलक्खण हत्थ ।
जे जिणतित्थहं[7] अणुसरहिं पाय वि ते जि[8] पसत्थ ॥११७॥

जे सुणंति धम्मक्खरइं[9] ते हउं मण्णमि कण्ण ।
जे जोयहिं जिणवरह मुहु ते पर लोयण धण्ण ॥ ११८ ॥

अवरु वि जं जहिं उवयरइं[10] तं उवयारिहि[11] तित्थु ।
लइ जिय[12] जीवियलाहडउ देहु म लेहु[13] णिरत्थु ॥ ११९ ॥

---

१ अ. क. संजमियउणय. २ अ. °विहूणा; क. °विहूणी. ३ ज. बोल्लिउ. ४ क. दव्वफलंतरु. ५ ज. जिं. ६ अ सोहइ. ७ अ. ज. °तित्थहिं. ८ अ. क. ण ९ अ. क. °इं; ज. °इं. १० अ. क. °हि. ११ ज. उवयारिहिं. १२ द. जीविय जियलाहडउ. १३ प. करहु.

११३. धर्म वही विशुद्ध है जो अपनी काय से किया
काय से धर्म, जावे, और धन वही उज्वल है जो न्याय से
न्याय से धन आवे।

११४. निर्धन मनुष्य के कष्ट संयम में उन्नति देते हैं।
निर्धनता उत्तम पद में जोड़े हुए दोष भी गुण हो
और संयम जाते हैं।

११५. नियम-विहीन मनुष्य की निष्ठा निष्फल होती है।
नियम और विना बोलाये क्या कोई लोक में दाम का टुकड़ा
निष्ठा भी पाता है ?

११६. जो व्रत-भाजन हो वही तन है, अन्य किस काम
सच्चा तन, का ? वही सिर है जो जिनमुनि को नमस्कार करे
सच्चा मस्तक और भक्ति के भार से सुशोभित हो।

११७. जो दान और पूजाविधि करें वे ही सुलक्षण हाथ
सच्चे हाथ, हैं। जो जिनतीर्थों का अनुसरण करें वे ही पांव
सच्चे पांव प्रशंसनीय हैं।

११८. जो धार्मिक शब्दों को सुनते हैं उन्हीं को मैं कान
सच्चे कान, मानता हूं। जो जिनवर का मुख देखें वे ही परम
सच्चे नेत्र लोचन धन्य हैं।

११९. और भी जो (अंग) जैसा उपकार कर सके
धर्म से देह की उससे वैसा उपकार कराओ। हे जीव, जीवन-
सार्थकता लाभ लेकर देह को निरर्थक मत करो।

घरु पुरु परिथणु धणियधणु बंधवपुत्तसहाइं ।
जीवें जंतें धम्मु पर अण्णु ण सरिसउ जाइ ॥ १२० ॥

देहि दाण चेउ किं पि करि मणे गोवहि णियसत्ति ।
जं कड्ढियइं वलंतयहं तं उव्वरइ ण भंति ॥ १२१ ॥

जइ जिय सुक्खइं अहिलसहि छंडहि विसयकसाय ।
अह विग्घइं अणिवारियहं फलहिं कि अज्झवसाय ॥ १२२।

फरसिंदिउ मा लालि जिय लालिउ एहु जि सत्तु ।
करिणिहिं लग्गउ हत्थियउ णियलंकुसदुहु पत्तु ॥ १२३ ॥

जिब्भिंदिउ जिय संवरहि सरस ण भल्ला भक्ख ।
गालइं मच्छु चडप्फडिवि मुउ विसहइ थलदुक्ख ॥ १२४।

घाणिंदिय वड वासि करहि रक्खहुं विसयकसाउ ।
गंधहं लंपडु सिलिमुहु वि हुउ कंजइं विच्छाउ ॥ १२५ ॥

रूवहु उप्परि रइं म करि णयण णिवारहि जंत ।
रूवासत्त पयंगडा पेक्खहि दीवि पडंत ॥ १२६ ॥

---

१ द सयाइं. २ अ. ज. वउ. ३ अ. क. मणि. ४ क कढियइं घरघरनयहं. ५ ज. द सुक्खहिं. ६ क. विग्घें. ७ क लग्गिउ. ८ द. °वुह. ९ अ. मुह. १० क. रक्खउ. ११ ज. °पमाउ १२ द. मइ. १३ ज. रूवहु लग्गि. १४ क. पेखह.

१२०. घर, पुर, परिजन, धनिकों का धन, पुत्र, बांधव और सहायक ये जाते समय जीव के साथ नही जाते। धर्म ही एक साथ जाता है।
जीव का सखा थी केवल धर्म

१२१. कुछ भी कर के चार दान दे। मन को निजशक्ति के अनुसार गोप। जो खींच लिया चलते समय वही उपकारी होगा इसमें भ्रान्ति नहीं।
दान और मनोगुप्ति

१२२. हे जीव यदि तूं सुख चाहता है तो विषय-कषाय छोड़ दे। जिन्होने विघ्नों का निवारण नही किया उनके क्या अध्यवसाय फलीभूत होते हैं?
विषय-कषाय का त्याग

१२३. हे जीव, स्पर्शेन्द्रिय का लालन मत कर। लालन करने से यह शत्रु बन जाता है। करिणी से लग कर हाथी जंजीर और अकुंश के दुख में पड़ा है।
स्पर्शेन्द्रिय

१२४. हे जीव, जिह्वेन्द्रिय का संवारण कर। रसपूर्ण भक्षण भला नही होता। गल से मछली थल के दुख सहती है और तड़फड़ा कर मरती है।
जिह्वेन्द्रिय

१२५. हे मूढ, घ्राणेन्द्रिय को वश में कर और विषय-कषाय से वच। गंध का लोभी शिलीमुख (भ्रमर) कमल में कुम्हला कर पड़ा है।
घ्राणेन्द्रिय

१२६. रूप के ऊपर रति मत कर। उधर जाते हुए नयनों को भी रोक। रूप में आसक्त पतंग को दीपक पर पड़ते हुए देख।
नेत्रेन्द्रिय

मणगच्छइं मणमोहणेइं जिय गेयहं अहिलासु ।
गेयरसें हियकण्णडा पत्ता हरिण विणासु ॥ १२७ ॥

एक्कहिं इंदियँमोक्कलउ पावइ दुक्खसयाइं ।
जसु पुणु पंच वि मोक्कला तसु पुच्छिज्जइ काइं ॥ १२८ ॥

ढिल्लउ होहि म इंदियहं पंचहं विण्णि णिवारि ।
इक णिवारहि जीहँडी अण्ण पराई णारि ॥ १२९ ॥

खंचहि गुरुवयणंकुसहिं मेल्लि म ढिल्लउ तेमँ ।
मुहं मोडइ मणहत्थियउ संजमभरतरु जेमँ ॥ १३० ॥

परिहरि कोहु खमाइ करि मुच्चेहि कोहमलेण ।
ण्हाणें सुज्झइ भंतिकउ छित्तउ चंडालेण ॥ १३१ ॥

मउयत्तणु जिय मणि धरहि माणु पणासइ जेण ।
अहवा तिमिरु ण ठाहरइ सूरहु गयणि ठिएण ॥ १३२ ॥

माया मिल्लही थोडिय वि दूसइ चरिउ विसुद्धु ।
कंजियबिंदुइं वि तुडइं सुद्धु वि गुलियँउ दुद्धु ॥ १३३ ॥

---

१ ज. °मोहणइं. २ अ. गीयह. ३ अ. क. वक्क वि. ४ अ. इंदिउ. ५ अ. क. द. होइ. ६ क. जीयडी; ज. जीहडिय. ७ क. तेन ८ ज. प. जइ. ९ ज. संजमु भरु. १० अ. क. जेन. ११ क. मुंचइ. १२ ज. दुसइ परा. १३ अ. क. °बिंदु वि घउ पडइ. १४ अ. क. गलियउ.

१२७. कुछ अच्छे, मनमोहक गीत की, हे जीव, अभिलाषा
कर्णेन्द्रिय ( मत कर )। कर्णहारी गीत के रस से हरिण विनाश को प्राप्त हुए।

१२८. एक ही इन्द्रिय के स्वच्छन्द होने से सैकड़ों दुख
पंचेन्द्रिय प्राप्त होते हैं। जिसकी पांचों इंन्द्रिय मुक्त हैं उसका तो पूछना ही क्या है।

१२९. पांचों इंद्रियों के सम्बन्ध में ढीला मत हो। दो का
जिह्वा और परस्त्री निवारण कर। एक जीभ को रोक और दूसरे पराई नार।

१३०. गुरुवचन रूपी अंकुश से खींच, जिससे मद्रापन
मन रुपी हाथी, संयमरुपी वृक्ष. को छोड़कर मनरूपी हाथी संयम रूपी हरे भरे वृक्ष की ओर मुख मोड़े।

१३१. क्रोध को छोड़ और क्षमा धारण कर। क्रोध रूपी
सच्ची शुद्धि मैल से मुक्त हो। भ्रान्ति में पड़ा हुआ मनुष्य ही चंडाल से छुआ जाकर स्नान से शुद्ध होता है।

१३२. हे जीव, मृदुता को मन में धारण कर जिससे
मार्दव मान का प्रणाश हो। सूर्य के गगन में स्थित होने पर तिमिर नही ठहर सकता।

१३३. माया को छोड़ जो थोड़ी भी विशुद्ध चरित्र को
मायात्याग दूषित कर देती है। कांजी के बिन्दुमात्र से शुद्ध, गुडीला दूध भी फट जाता है।

लोहु मिल्लि चउगइसलिलु हलुवउ जायइ जेम ।
लोहमुक्कु सायरु तरइ पेक्खि परोहणु तेम ॥ १३४ ॥

मोहुं णु छिज्जउ दुब्बलउ होइ इयरु परिवारु ।
हलुवउ उग्घाडंतयहं अह व णिरग्गलु वारु ॥ १३५ ॥

मिच्छत्तें णरु मोहियउ पाउ वि धम्मु मुणेइ ।
भंति कवण धत्तूरियउ डेलु वि सुवण्णु भणेइ ॥ १३६ ॥

जइ इच्छहि संतोसु करि जिय सोक्खहं विउलाहं ।
अइ वा चंदु ण को करइ रवि मेल्लिवि कमलाहं ॥ १३७ ॥

मणुयहं विणयविवज्जियहं गुण सयल वि णासंति ।
अह सरवरि विणु पाणियइं कमलइं केम रहंति ॥ १३८ ॥

विज्जावच्चें विरहियउ वयणियरो वि ण ठाइ ।
सुक्कसरहु किं हंसउलु जंतउ धरणहं जाइ ॥ १३९ ॥

सज्झाएं णाणह पसरु रुज्झइ इंदियभाउ ।
पच्चूसें सूरुग्गमणि घूयंडकुलु णिच्छाउ ॥ १४० ॥

---

१ क. परोहण. २ द. मोहुण छिज्जइं. ३ अ. क. द. णिरग्गल. ४ अ. क. डेलु वि सुण्णु. ५ अ. ज. द. अच्छहि. ६ ज. कु वि. ७ अ. क. घूवड.

१३४. लोभ को छोड़ जिससे चतुर्गति रूपी जल हलका
लोभत्याग हो जाय। देख, लोहमुक्त प्ररोहण ( नौका ) सागर
को तर जाती है।

१३५. मोहका क्षय हो जाने से अन्य परिवार ( आपही )
मोहत्याग दुर्बल हो जाता है। अर्गला रहित द्वार उघाड़ने में
हलका होता है।

१३६. मिथ्यात्व से मोहित नर पाप को भी धर्म मानता
मिथ्यात्व है। धतूरे से मत्त पुरुष दल को भी सुवर्ण कहे
इसमें क्या भ्रान्ति है।

१३७. यदि खूब सुख की इच्छा है, तो, हे जीव, सन्तोष
सन्तोष कर। कमलों को आनन्द सूर्य को छोड़कर और
कौन करेगा ?

१३८. विनय से विवर्जित मनुष्यों के सकल गुण नष्ट हो
विनय जाते हैं। बिना पानी के सरोवर में कमल किस
प्रकार रह सकते हैं ?

१३९. वैयावृत्य से विरहित व्रतों का समूह भी नहीं
वैयावृत्य ठहरता। सूखे सरोवर से जाता हुआ हंसकुल
क्या धरा ( रोका ) जा सकता है ?

१४०. स्वाध्याय से ज्ञान का प्रसार और इंद्रिय-ग्राम
स्वाध्याय का अवरोध होता। है प्रातःकाल के सूर्योदय में
घुग्घू-कुल निष्प्रभ होजाता है।

गुणवंतहं सह संगु करि भल्लिम पावहि जेम ।
सुवण[1]सुपत्त[2]विवज्जियउ नरतरु वुच्चइ[3] केम ॥ १४१ ॥

सत्तु वि महुरइं उवसमइ सयल वि जिय वसि हुंति ।
चाइ[4] कवित्तें पोरिसइं पुरिसहु होइ ण कित्ति ॥ १४२ ॥

भोयणु मउणें[5] जो करइ सरसइ सिज्झइ तासु ।
अह[6] वा वसइ समुद्दि जिय लच्छिम करहुं[7] णिवासु ॥ १४३ ॥

विसय[8]कसाय वसणणिवहु अण्णु जि मिच्छाभाउ ।
पिसुणत्तणु कक्कसवयणु मिल्लहि[9] सयलु अणाउ ॥ १४४ ॥

अण्णाएं आवंति जिय आवइ घरण ण जाइ ।
उम्मग्गें चल्लंतयहं कंटइं[10] भज्जइ पाउ ॥ १४५ ॥

परिहरि पुत्तु वि अप्पणउ जसु अण्णायपवित्ति ।
अप्पणियइं लालइं मरइ कुसियारउ णउ भंति ॥ १४६ ॥

अण्णाएं बलियेहं[11] वि खउ किं दुब्बलेहं[12] णे[13] जाइ ।
जहिं वाएं वच्चंति गय तहिं[14] किं सूणी ठाइ ॥ १४७ ॥

---

१ ज. द सवण. २ क. सपत्त. ३ ज. वुज्झइ. ४ क. चाउ; अ. चाड. ५ अ. मोणि ६ द. अह व वसाइ; ज. वसाय. ७ अ. क. ज. करइ. ८ क. वसाणि कसाए विसममय. ९ अ. क. द. मिल्लिवि. १० अ. ज. कंटउ. ११ अ. बलियउ. १२ अ. क. ज. द. दुब्बलउ. १३ ज. द. म. १४ क. ज. तिह.

१४१. गुणवंतों का संग कर जिससे भलाई पावे। सुवन
सुसंगति और सुपत्रों से विवर्जित उत्तम वृक्ष कैसे कहा जा सकता है?

१४२. शत्रु भी मधुरता से शान्त हो जाता है और सभी
माधुर्य, त्याग और पौरुष जीव वश में हो जाते हैं। त्याग, कवित्व और पौरुष से पुरुष की कीर्ति होती है।

१४३. जो मौन से भोजन करता है उसे सरस्वती सिद्ध
मौन-भोजन होती है। लक्ष्मी समुद्र में निवास करती है इसलिये समुद्र ( स्व+मुद्रा ) में उसका निवास बनाओ।

१४४. विषय-कषाय, व्यसनसमूह, पिशुनत्व, कर्कशवचन
त्याज्य-भाव और सकल अन्याय इनको छोड़।

१४५. अन्याय से ( लक्ष्मी ) आती तो आजाती है पर
अन्याय धरी ( रोकी ) नहीं जा सकती। उन्मार्ग से चलने वालों का पांव कांटे से भग्न होता है।

१४६. जिसकी अन्याय में प्रवृत्ति हो उसका परिहार कर
अन्यायी का त्याग चाहे वह अपना पुत्र भी हो। कुसियारा अपने ही लाल ( लार ) से मरता है, इसमें भ्रान्ति नहीं।

१४७. अन्याय से बलवानों का भी क्षय हो जाता है, क्या
अन्याय से नाश दुर्बल का न होगा? जहां वायु से गज भी उड़ जाते हैं वहां क्या कुत्ती ठहर सकती है?

अण्णाएं दालिद्दियहं रे[1] जिय दुहु आवग्गु ।
लक्कडियैहं[2] विणु खोडयहं मग्गु सच्चिक्खैलु[3] दुग्गु ॥ १४८ ॥

अण्णाएं दालिद्दियहं ओहट्टइ णिव्वाहु ।
लुग्गउ पायपसारणइं फाटैइ[4] को संदेहु ॥ १४९ ॥

ता अच्छउ जिय पिसुणमइ संगु जि ताह विरुद्धु ।
सप्पहं संगें कट्टियउ चंदणु पिक्खुं[5] सुयंधु ॥ १५० ॥

विहडावइ ण हु संघडइ पिसुणु परायउ णेहु ।
टालइ रयैइ[6] ण उत्तिडउ उंदैरु[7] को संदेहु ॥ १५१ ॥

धम्में विणु जे सुक्खडा तुट्टा गया वियार ।
जे तरुवर खंडिवि खुडिय ते फल इक जि वार ॥ १५२ ॥

सुहियउ हुवउ णं[8] को वि इह रे जिय णरु पावेण ।
कद्दमि ताडिउ उट्ठियउ गिंदुउं[9] दिट्ठउ केण ॥ १५३ ॥

रे जिय पुव्व ण धम्मु किउ एवहिं करि संताव ।
भंति कवण विणु णावियइं खडहडि णिवडइ णाव ॥१५४॥

---

१ ज. द. अरे. २ ज. द. लक्कडियइं. ३ अ. क. सच्चिक्खलु ४ अ. ज. फट्टइ. ५ अ. पिक्खिय. ६ अ. क. रयणिहिं उत्तिडउ. ७ अ. उंदुरु ८ ज. द. ण होइसइ अरि जिय को पावेण ९ ज. छिंदुउ; द. झिंदुउ.

१४८. हे जीव, अन्याय से दरिद्रियों का दुख बढता है। विना लकड़ी के खोड़े के मार्ग कीचड़मय और दुर्गम हो जाता है।

अन्याय से दुखवृद्धि

१४९. अन्याय से दरिद्रियों का निर्वाह भी टूट जाता है। जीर्ण वस्त्र पांव पसारने से फटेगा ही इसमें क्या सन्देह है।

अन्याय से निर्वाह-हानि

१५०. इसलिये, हे जीव, पिशुनमति को अलग रहने दे। उसका संग भी विरुद्ध ( बुरा ) होता है। सर्प के संग से, देख, सुगन्धी चन्दन भी काट डाला जाता है।

पैशुन्य

१५१. पिशुन पराये स्नेह को तोड़ता है जोड़ता नही। उंदीर ( मूषक ) उत्तरीय ( वस्त्र ) को काटता है, रचता नही।

१५२. धर्म के विना जो सुख भोगे हैं वे विचारले कि टूट गये। जो वृक्ष को काटकर खोंटे गये हैं वे फल एक वार के ही हैं।

धर्मरहित सुख

१५३. हे जीव, पाप से यहां कोई नर सुखी नही हुआ। कीचड़ में मारी हुई गेंद उठती हुई किसने देखी है ?

पाप से सुख नही.

१५४. हे जीव, 'पूर्व में धर्म नही किया' इसका संताप कर। विना नाविक के नाव चट्टानों पर जा पड़े तो इसमें क्या भ्रान्ति है।

धर्म नाविक है

जेण सुदेउ सुणरु हवसि सो पइं कियउ ण धम्मु ।
बिण्णि वि छत्तें वारियहि[1] इक्कु पाणिउ अरु घम्मु ॥१५५॥

अभयदाणु भयभीरुयहं[2] जीवहं दिण्णु ण आसि ।
वार वार मरणहं डरहि केम चिराउसु[3] होसि ॥ १५६ ॥

विज्जावच्चु ण पइं कियउ दिण्णु ण ओसहदाणु ।
एवहिं वाहिहिं पीडियउ कंदि म होहि अयाणु ॥ १५७ ॥

संघहं[4] दिण्णु ण चउविहहं[5] भत्तिए भोयणदाणु ।
रे जिय काइं चडप्फडहि दूरीकयणिव्वाणु ॥ १५८ ॥

पोत्थय दिण्ण ण मुणिवरहं विहिय ण सत्थहं पुज्ज ।
मइ पंडियउ कवित्तुं[6] गुणु चाहहि केम णिलज्ज ॥ १५९ ॥

पाउ करहि सुहु अहिलसहि परँ[7] सिविणे वि ण होइ ।
माइण्णिवें[8] वाइयइं[9] अंब कि चक्खइ कोइ ॥ १६० ॥

गुरुआरंभइं[10] णेरयगइ[11] तिव्वकसाय हवंति ।
इकछिद्दिय पाहणभरिय वुड्डइ णाव ण भंति ॥ १६१ ॥

---

१ ज. विरयहि. २ अ. °भीतयहं. ३ ज. चिरायउ ४ अ. संघहं. ५ अ. क. द. °विहइं. ६ ज. कवित्त°. ७ क. द. परि. ८ ज. मायइ. ९ अ. ज. वाविययं. १० अ. द °आरंभहं. ११ अ. क. णिरय°.

१५५. धर्म के विना नरत्व और देवत्व नही — जिससे सुदेव और सुनर होता है उस धर्म को तूने नही किया। दोनों का छत्र से निवारण कर सकेगा, एक पानी और (दूसरा) घाम।

१५६. चिरायु क्यों न हुआ? — भयभीरुकों को कभी अभयदान नही दिया। अब बार बार मरने से डरता है। चिरायु कैसे हो सकता है।

१५७. व्याधियों से पीडित क्यों हुआ? — तूने न वैयावृत्य किया, न औषधदान दिया, इसलिये व्याधियों से पीडित हुआ है। हे अज्ञानी, कठोर मत हो।

१५८. निर्वाण से दूर क्यों हुआ? — चतुर्विध संघ को भक्ति से भोजनदान नही दिया। रे जीव, निर्वाण को दूर करके अब क्यों तड़फड़ाता है।

१५९. मति आदि गुण क्यों न हुए? — मुनिवरों को पोथी नही दीं, न शास्त्रों की पूजा की। मति, पाण्डित्य, कवित्व व गुण किस प्रकार चाहता है, निर्लज्ज?

१६०. पाप से सुख नही. — पाप करता है और सुख चाहता है, पर वह स्वप्न में भी नही होता। माईफल व नीम बोने से क्या कोई आम चख सकता है?

१६१. आरम्भ से नरक गति — बड़े आरम्भ से तीव्र कषाय और नरक गति होती है। पाषाणों से भरी नाव एक ही छिद्र से डूब जाती है इसमें भ्रान्ति नही।

कुडतुलामाणाइयहं हरिकरिखरविसमेस ।
जो णचइ णंडपेखणउ सो गिण्हइ बहुवेसें ॥ १६२ ॥

हलुवारंभहं मणुयगइ मंदकसायहं होइ ।
छुडु सावउ धणु वाहुडइ लाहउ पुणरवि होइं ॥ १६३ ॥

सम्मत्तें सावयवयहं उप्पज्जइ सुरराउ ।
जो गविणिट्ठउ छंडियइ सो वारइ किम जाउ ॥ १६४ ॥

धम्में जं जं अहिलसइ तं तं लहइ असेसु ।
पावें पावई पावियउ दालिद्दु वि सकिलेसु ॥ १६५ ॥

धम्में हरिहलचक्कवइ कुलयरु जायइ कोइ ।
भुवणत्तयवंदियचलणु कु वि तित्थंकरु होइ ॥ १६६ ॥

जासु जणणि सग्गागमणि पिच्छइ सिविणयपंति ।
पहतेएं संभावियइ सुरुग्गमणु ण भंति ॥ १६७ ॥

जो जम्मुच्छवि ण्हावियउ अमियघडहिं सक्केण ।
किम ण्हाविज्जइ अतुलबलु जिणु अह वासक्केण ॥ १६८ ॥

---

१ ज. कुडतुल्ला कुडमाणयहं. २ ज. णडु. ३ अ. क. भेस. ४ अ. क. लहुआ°. ५ क. कोइ. ६ क. योगाविणट्ठउ; अ. द. णिट्ठिउ. ७ अ. जाइ. ८ क. द. पावइ. ९ ज. °णि.

१६२. कूट तुला, मानादि (झूठे तराजू, बांट आदि) रखने वाले सिंह, हाथी, गधा, विषवाले व मेष (बकरा) होते हैं। जो नट का तमाशा करता है वह बहुत वेष धारण करता है।

कपट–व्यापार का फल

१६३. लघु आरम्भ और मन्दकषाय वालों को मनुष्य-गति प्राप्त होती है। यदि श्रावक धन का व्यापार करता है तो फिर लाभ होता ही है।

मनुष्य-गति की प्राप्ति

१६४. सम्यक्त्व-सहित श्रावक के व्रतों से सुरराज उत्पन्न होता है। जो इन्द्रियों की निष्ठा को छोड़ देता है वह जाने से कैसे रोका जा सकता है?

इन्द्रत्व-प्राप्ति

१६५. धर्म से जो जो अभिलाषा करता है सो सब पाता है। पाप से पापी क्लेशमय दारिद्र्य पाता है।

यथेष्ट प्राप्ति

१६६. धर्म से कोई हरि, हर, चक्रवर्ती व कुलकर उत्पन्न होता है और कोई तीर्थंकर होता है जिनके चरणों की तीनों लोक वन्दना करते हैं।

तीर्थंकर पद-प्राप्ति

१६७. स्वर्ग से आगमन के समय उनकी जननी स्वप्न-पङ्क्ति देखती है। सूर्योदय प्रभा के तेज से संभावित होता है इसमें भ्रान्ति नहीं।

गर्भकल्याण

१६८. जन्मोत्सव के समय उनका स्नान शक्र अमृत के घड़ों से करता है। अतुलबली जिन भगवान् अशक्त के द्वारा कैसे नहलाये जा सकते हैं।

जन्म कल्याण

सुरसायरि जसु णिक्कमणि[1] घल्लइ चिहुर[2] सुरिंदु ।
अह उत्तमकज्जहं हवइ ठाउ जि खीरसमुद्दु ॥ १६९ ॥

णाणुग्गमि जसु समसरणि पत्तामरसंघाउ ।
होइ कमल[3]मउलियभसलु सूरुग्गमणि तलाउ ॥ १७० ॥

जसु पत्तुत्तम[4]राइयउ विलुलंतो वि असोउ ।
अइदूरुज्झियपरियणहं किम उप्पज्जइ सोउ ॥ १७१ ॥

वारिउ तिमिरु जिणेसरहं भामंडलु अइदित्तु ।
हयतमु होइ सुहावणउ इत्थु ण काइं विचित्तु ॥ १७२ ॥

माइउसरणु सिलीमुहउ कुसुमासणि थिप्पंति ।
सुमणस अलियाविवज्जिया जिणचलणहं णिवडंति ॥१७३॥

धवलु वि सुरमउडंकियउ सिंहासणु बहु रेइ[5] ।
अह वा सुरमणिमंडियउ जिणवर[6]आसणु होइ ॥ १७४ ॥

सद्दमिसिण दुंदुहि रडइ छंडहु जीवहं खेरि ।
हक्कारइ णर तिरिय सुर एरिस होइ स[7] भेरि ॥ १७५ ॥

---

१ द. णिक्खवणि. २ ज. चिहुरु. ३ ज. कमलु. ४ ज. द. °त्तमि. ५ ज. रोइ. ६ अ. °हरु; ज. °हरि; द. °वरि. ७ अ. मु ( सु. ? ); द. म.

१६९. निष्क्रमण के समय सुरेन्द्र उनके केशों को सुरसागर में घालते ( डालते ) हैं। उत्तम कार्य का ठांव भी क्षीरसमुद्र होता है।
तप कल्याण

१७०. ज्ञानोदय के समय उनके समवशरण में देवों का समूह प्राप्त होता है। सूर्योदय के समय तलाव कमलों पर मुकुलित भ्रमरों से युक्त होता है।
ज्ञान कल्याण

१७१. उनके ऊपर उत्तम पत्रों से विराजित अशोक लहलहाता है। जिन्होंने परिजनों का बहुत दूर से परित्याग कर दिया उन्हे कैसे शोक उत्पन्न हो सकता है ?
अशोक

१७२. जिनेश्वर का अंधकार दूर हुआ है, अतः उनका भामण्डल अतिदीप्तिमान, तम का नाश करने वाला और सुहावना होता है इसमें कुछ विचित्र नहीं है।
भामण्डल

१७३. माधवशरण शिलीमुख कुसुमासन पर तृप्त हो जाते हैं और अलीकविवर्जित सुमनस जिन भगवान् के चरणों में पड़ते हैं।
पुष्पवृष्टि

१७४. सुरमुकुटांकित धवल सिंहासन भी बहुत शोभायमान है। जिनवर का आसन सुरमणि-मंडित होता है।
सिंहासन

१७५. शब्द के मिष से दुंदुभि रटती है 'जीवों के प्रति द्वेष छोड़ो'। वह नर, तिर्यञ्च और सुरों को हकारती है। वह भेरी ऐसी होती है।
दुंदुभि

चामर ससहरकरधवल जसु चउसट्ठि पडंति ।
हरिसिय जिणपासट्ठिया अह सचामर हुंति ॥ १७६ ॥

छत्तइं छणससिपंडुरइं सुर णर णाय धरंति ।
विसहरसुरचक्किहिं गहिय जिणपुंडरिय हवंति ॥ १७७ ॥

झुंणिअक्खियसंपुण्णहल जीवा सासणि जासु ।
अमियसरिसँ हियमहुर गिर अह व ण वल्लह कासु ॥१७८॥

एह विहूइ जिणेसरहं हुव धम्में एवड्डु ।
वणसइ णयणाणंदयरि होइ वसंतें मंड ॥ १७९ ॥

एवंविहु जो जिणु महइ वंछिउ सिज्झइ तासु ।
बीजें अह वा सिंचियइं खेत्तिय होइ ण कासु ॥ १८० ॥

जो जिणु ण्हावइ घयपयहिं सुरहिं ण्हविज्जइ सोइ ।
सो पावइ जो जं करइ एहु पसिद्धउ लोइ ॥ १८१ ॥

गंधोएण जि जिणवरहं ण्हाविय पुण्णु बहुत्तु ।
तेलहे बिंदु वि विमलजँलि को वारइ पसरंतु ॥ १८२ ॥

---

१ अ. °हं. २ अ. धुणि; ज. मुणि. ३ ज. सहिय. ४ अ क. इवघड्ड. ५ अ. क. °विह. ६ ज. द. विज्जें. ७ ज. संचियएं. ८ ज. ण्हाविहिं. ९ द. तेलहे. १० ज. जलिहिं.

१७६. चमर — चन्द्रकिरणों के समान धवल चौसठ चमर उनके ऊपर ढुलते हैं। हर्ष से जिन भगवान् के पास स्थित होने वाले सच्चामर (सच्चे अमर) होते हैं।

१७७. छत्र — पूर्णचन्द्र के समान श्वेत छत्र सुर नर और नाग धारण करते हैं। जिन भगवान् के पुंडरीक (छत्र) विषधर, सुर और चक्रवर्तियों द्वारा गहे जाते हैं।

१७८. दिव्यध्वनि — उनके शासन में ध्वनि द्वारा जीवों के सम्पूर्ण फलों का व्याख्यान होता है। अमृत के सदृश, हृदयमधुर गिरा किसे प्यारी नहीं लगती ?

१७९. यह जिनेश्वर की इतनी विभूति धर्म से ही हुई है। नयनानन्दकारी वनश्री वसन्त से ही मण्डित होती है।

१८०. जिन-पूजा — इस प्रकार के जिन भगवान् की जो पूजा करता है उसका वाञ्छित सिद्ध होता है। बीज के सींचने से किसकी खेती (समृद्ध) नहीं होती ?

१८१. घृत-पय-प्रक्षाल — जो जिन भगवान् को घृत और पय से स्नान कराता है उसे सुर नहलाते हैं। 'जो जैसा करता है तैसा पाता है' यह लोक में प्रसिद्ध ही है।

१८२. गंधोदक-प्रक्षाल — जिनवर के गंधोदक स्नान से बहुत पुण्य होता है। विमल जल में पड़े हुए तेल के बिन्दु को फैलने से कौन रोक सकता है ?

जलधारा जिणपयगयउ रयहं पणासइ[1] णासु ।
ससहरकिरणकरालियहं तिमिरहु कित्तिउ थामु ॥ १८३ ॥

जो चच्चइ जिणु चंदणइं होइ सुरहि तसु देहु ।
तिल्लें जह दीवहं गयइं उज्जोइज्जइ[2] गेहु ॥ १८४ ॥

जिणु अच्चइ जो अक्खयहिं तसु वरवंसपसूइ ।
अह विढ्यिइं सुयपंचमिहि होइ वि चक्किविहूइ ॥ १८५ ॥

खुट्टइ भोउ ण तसु महइ जो कुसुमहिं जिणणाहु ।
अह सरवरि[3] णइसारिणइ पाणिउ होइ अगाहु ॥ १८६ ॥

णेवज्जइं दिण्णइं जिणहु जिय दालिद्दहु णासु ।
दुरिउ ण ढुक्कइ तहुं[4] णरहु लच्छिहि होइ ण णासु ॥१८७॥

दीवइं दिण्णइं जिणवरहं मोहहुं[5] होइ ण ठाउ ।
अह उववासहिं रोहिणिहिं सोउ विपलयहु जाइ ॥१८८॥

धूवउ खेवइ जिणवरहं तसु पसरइ सोहग्गु ।
इत्थु म कायउ भंति करि तें पडिबद्धउ सग्गु ॥ १८९ ॥

---

१ क. पयासइ. २ क. उज्जोवज्जइ. ३ अ. क. द., सरवर; ज. सरवणइं सारणइं. ४ अ. द. तहो; ज. तसु. ५ द. मोहह.

१८३. जिनदेव के चरणों पर की जलधारा रज का नाम तक नष्ट कर देती है। चंद्रकिरणों से करालित तिमिर का कितना सामर्थ्य है ?

जल-प्रक्षाल फल

१८४. जो जिन भगवान् की चन्दन से पूजा करता है उसका शरीर सुगन्धित होता है, जैसे कि दीप में डाले तेल से घर में उजेला किया जाता है।

चन्दन-पूजा फल

१८५. जो अक्षतों से जिनदेव को पूजता है उसका उत्तम वंश में जन्म होता है, और श्रुतपंचमी के विधान से चक्रवर्ती की विभूति होती है।

अक्षत-पूजा, श्रुत-पंचमी फल

१८६. जो पुष्पों से जिनदेव को पूजता है उसका कभी भोग नहीं खुटता। सरोवर में नदी की नहर मिला देने से पानी अगाध हो जाता है।

पुष्प-पूजा फल

१८७. जिनदेव को नैवेद्य चढाने से, हे जीव, दारिद्र्य का नाश होता है, उस मनुष्य को पाप नहीं लगता और लक्ष्मी का विनाश नहीं होता।

नैवेद्य-पूजा फल

१८८. जिनवर को दीप चढाने से मोह को स्थान नहीं मिलता, और रोहिणी के उपवास से शोक भी प्रलय को पहुंच जाता है।

दीप-पूजा, रोहिणी उपवास फल

१८९. जो जिनवर को धूप खेता है उसका सौभाग्य फैलता है। इसमें कुछ भी भ्रान्ति मत कर कि उसने स्वर्ग बांध लिया।

धूप-पूजा फल

देइ जिणिंदहं जो फलइं तसु इच्छियइं फलंति ।
भोयघरहं गय रुक्खडा सयल मणोरहं[1] दिंति ॥ १९० ॥

जिणपयपयकुसुमंजलिहिं उत्तमसिरसंजोउ ।
सरगयरविकिरणावलिए णलिणिहिं लच्छिम होइ[2] ॥१९१॥

जिणपडिमइं काराविययइं संसारहं[3] उत्तारु ।
गमणट्ठियहं तरंडउ वि अह व ण पावइ पारु ॥ १९२ ॥

जिणभवणइं काराविययइं लब्भइ सग्गि विमाणु ।
अह टिक्कइं आराहणहं[4] होइ समाहिहि ठाणु ॥ १९३ ॥

जो धवलावइ जिणभवणु तसु जसु कहिं वि ण माइ ।
ससिकरणियरु[5] सरयमिलिउ जगु धवलणइं वसाइ ॥१९४॥

जो पइठावइ जिणवरहं तसु पसरइ जगि कित्ति ।
उवहिवेल छणससिगुणइं[6] को वारइ पसरंति ॥ १९५ ॥

आरत्तिउं[7] दिण्णउ जिणहं उज्जोयइं[8] सम्मत्तु ।
भुवणुब्भासइ सुरगिरिहिं सूरु पयाहि ण दिंतु ॥ १९६ ॥

---

१ द. मणोहर हुंति. २ ज. द. होउ. ३ क. °हु; द. °हो. ४ ज. आराहणइं; द. आराहणिहिं. ५ ज. ससिहर. ६ क. °गुणहं. ७ ज. दीवउ दिण्णउ जिणवरहं. ८ क. द. उज्जोइय.

१९०. जो जिनेन्द्र को फल चढाता है उसको यथेष्ट फल प्राप्त होता है । भोगभूमि के वृक्ष उसके सब मनोरथों को पूरा करते हैं ।

फल-पूजा फल

१९१. जिनदेव के पद पर चढाई कुसुमाञ्जलि से उत्तम श्री का संयोग होता है । सरोवर में पड़ी रवि की किरणावलि से कमलों में लक्ष्मी आती है ।

कुसुमांजलि फल

१९२. जिनप्रतिमा कराने से संसार से उतार होता है । गमन के लिये उद्यत पुरुष को तरंड ( डोंगा ) ही पार लगाता है ।

जिन-प्रतिमा कराने का फल

१९३. जिन-मंन्दिर बनवाने से स्वर्ग में विमान मिलता है, और आराधना की टीका करने से समाधि में स्थिति होती है ।

जिनमंदिर निर्माण फल

१९४. जो जिन-मन्दिर को धवल करवाता है ( सफेदी करवाता है ) उसका यश कहीं नहीं माता । शरत्काल से मिलकर चन्द्रकिरणों का समूह जगत् भर को धवल बना देता है ।

जिनमंदिर की सफेदी कराने का फल

१९५. जो जिनवर की प्रतिष्ठा करता है उसकी जगत् में कीर्ति फैलती है । पूर्णचन्द्र के गुणों से प्रसार करती हुई उदधि की वेला ( तरंग ) को कौन रोक सकता है ?

जिन-प्रतिष्ठा फल

१९६. जिनदेव को दी हुई आरती सम्यक्त्व का उद्योत करती है । सुरगिरि पर पदार्पण करते ही सूर्य भुवन को उद्भासित कर देता है ।

आरती-फल

तिलयइं दिण्णइं जिणवरहं जगि अणुराउ ण माइ ।
चंदकंति चंदहं मिलिउ पाणिय दिण्ण ण ठाइ ॥ १९७ ॥

चंदोवइं दिण्णइं जिणहं मणिमंडविय विसाल ।
अह संबंधा ससहरहं गहतारायणमाल ॥ १९८ ॥

भव्वुच्छाहणि पावहरि जिणहरि घंट रसंति ।
कुमुयाणंदणि तमहरणि छणजामिणि ण हु भंति ॥ १९९ ॥

चिंघचमरछत्तइं जिणहं दिण्णइं लब्भइ रज्जु ।
अह पारोहहिं णिग्गयहिं वडु वित्थरइ ण चोज्जु ॥ २०० ॥

जिणहरि लिहियइं मंडियइं लच्छि समीहिय होइ ।
पुण्णु महंतउ तासु फलु कहिवि ण सक्कइ कोइ ॥ २०१ ॥

जंबूदीउ समोसरणु णंदीसरु लोयाणि ।
जिणवरभवणि लिहावियइं सयलहं दुक्खहं हाणि ॥२०२॥

दिण्णइं वत्थ सुअज्जियहं दिव्वंबर लब्भंति ।
पाणिउ पेसिउं पउमिणिहिं पउमइं देइ ण भंति ॥ २०३ ॥

---

१ ज. उद्दउ कि दिसी ठाइ. २ द. महि. ३ अ. ज. संबंधी. ४ ज. गय°. ५ क. °वर; द. °हर. ६ ज. °छत्तहं. ७ क. द. भव्वइ. ८ ज. समाहिय. ९ ज. कि. १० ज. द. णंदीसरि. ११ क. दिण्णों; ज. द. दिण्णा. १२ अ. क. ज. पोसिउ.

१९७. जिनवर को तिलक चढाने से जगत् में अनुराग नहीं माता। चन्द्रकान्त ( मणि ) चन्द्र से मिलकर पानी देने से नहीं रुकता।

तिलक-फल

१९८. जिन भगवान् को चढाये हुए मणि-मंडित और विशाल चंदेवा ( ऐसे शोभायमान होते हैं ) जैसे ग्रह और तारागणों की माला चन्द्र से सम्बद्ध हुई हो।

चंदेवा चढाने की शोभा

१९९. जिनगृह में बजता हुआ घंटा भव्यों का उत्साहक और पापहारी होता है। पूर्णिमा की रात्रि कुमुदानन्ददायिनी और अन्धकारहारिणी होती है इसमें भ्रान्ति नहीं।

जिनगृह में घंटा की महिमा

२००. जिन भगवान् को ध्वजा, चमर और छत्र चढाने से राज्य मिलता है। प्रारोहों के निकलने से वट का विस्तार बढे तो क्या आश्चर्य है।

ध्वजा, चमर, छत्र चढाने का फल

२०१. जिनगृह में मांडना लिखने से यथेष्ट लक्ष्मी प्राप्त होती है और महापुण्य होता है जिसका फल कोई कह नहीं सकता।

मांडना लिखने का फल

२०२. जम्बूद्वीप, समोसरण, नन्दीश्वर व लोकों को जिनमन्दिर में लिखवाने से सकल दुखों की हानि होती है।

जम्बूद्वीपादि लिखाने का फल

२०३. अर्जिकाओं को वस्त्र देने से दिव्य वस्त्रों की प्राप्ति होती है। पद्मसरोवर में पानी का प्रवेश कराने से वह पद्म देगा, इसमें भ्रान्ति नहीं।

अर्जिकाओं को वस्त्रदान का फल

सारंभइं ण्हवणाइयहं जे सावज्जे[1] भणंति ।
दंसणु तेहिं विणासियउ इत्थु ण कायउ भंति ॥ २०४ ॥

पुग्गलु[2] जीवइं सहु गणियँ[3] जो इच्छइ घणचाउ ।
[4]णि सम्मत्तें तसु तणइं किम सम्मत्तु म जाउ ॥ २०५ ॥

सम्मत्तें विणु वय वि गय वयहं गयहं गउ धम्मु ।
धम्में जंतें सुक्खु गउ तें विणु णिप्फलु जम्मु ॥ २०६ ॥

पुण्णरासिण्हवणाइयइं पाउ लहुँ[5] वि किउ तेण ।
विसकणियइं बहु उवहिजलु णउ दूसिज्जइ जेण ॥ २०७ ॥

तें सम्मत्तु महारयणु हियचंचलि थिरुं[6] बंधि ।
तें सहु जहिं जहिं जाँहि[7] जिय तहिं तहिं पावँहि[8] सिद्धि॥२०८॥

दाणचणविहि जो करइ इच्छियँ[9] भोयणिबंधु ।
विकंइँ[10] सुमणि वराडियइं सो जाणहु जाच्चंधु ॥ २०९ ॥

तें कम्मक्खउ मग्गि जिय णिम्मल बोहिसमाहि ।
ण्हवणदाणपूजाइयँइं[11] जें सासयपइ जाहि ॥ २१० ॥

---

१ अ. द. सावज्जु. २ क. पुग्गल जीवहिसुहु. ३ अ. क. द. गणिउ; ज. गणियउ. ४ अ. क. णिसमत्तइं. ५ अ. द. लहु किउ. ६ अ. तुहुं. ७ क. जाइ. ८ क. पावइ. ९ ज. द. इच्छइ. १० अ. विकिवि. ११ अ. क. °पूजाइयहं.

२०४. जो अभिषेकादि के समारम्भों को सावद्य ( दोष-
अभिषेक में पूर्ण ) कहते हैं उन्होंने दर्शन का नाश कर दिया,
दोष नहीं इसमें कोई भ्रान्ति नहीं।

२०५. जो पुद्गल को जीव का साथी गिनकर धन के
निर्विवेक से त्याग की इच्छा करता है उसकी ऐसी सम्मति से
सम्यक्त्वनाश सम्यक्त्व कैसे नहीं जायगा ?

२०६. सम्यक्त्व के विना व्रत भी गये। व्रतों के जाने से
सम्यक्त्वनाश धर्म गया। धर्म के जाते ही सुख भी गया जिसके
से सुखनाश विना जन्म निष्फल है।

२०७. अभिषेकादि की पुण्यराशि में यदि किसी ने लघु
पुण्यराशि मे पाप भी कर लिया तो विष के एक कण से
पापबिन्दु समुद्र भर का जल दूषित नहीं हो सकता।

२०८. इससे सम्यक्त्व रूपी महारत्न को हृदय रूपी
सम्यक्त्व से अंचल में स्थिरता से बांध। उसके साथ, हे जीव,
सिद्धि जहां जहां जायगा, तहां तहां सिद्धि पावेगा।

२०९. जो भोगबंध की इच्छा से दानार्चन विधि करता
भोगों की इच्छा है, वह जन्म का अंधा, जानो, उत्तम मणि को
से धर्म कौड़ी मोल बेचता है।

२१०. इसलिये, हे जीव, अभिषेक, दान, पूजादि से कर्मों
वाञ्छनीय फल के क्षय और निर्मल बोधि-समाधि की मांग कर
जिससे शाश्वत पद पर आवे।

पुण्णु पाउ जसु मणि ण समु तसु दुत्तरु भवसिंधु ।
कणयलोहणियलइं जियहु किं ण कुणहिं पयबंधु ॥२११॥

ण हु विग्गासिय दलकमलु ससरु सबिंदु सरेहु ।
वंछिज्जइ इय कप्पयरु कामिउ को संदेहु ॥ २१२ ॥

हियकमलिणि ससहरधवल सुद्ध फलिहसंकास ।
भाइय पडिम जिणेसरहं तोडइ चउगइपास ॥ २१३ ॥

जासु हियइ अ सि आ उ सा पाउ ण ढुक्कइ ताह ।
अह दावाणलु किं करइ पाणियगहिरठियाह ॥ २१४ ॥

जिय मंतइं सत्तक्खरइं दुरियइं दूरहु जंति ।
अह सीहहं गुंजारियइं हरिणउलइं कहिं ठंति ॥ २१५ ॥

बिण्णिसयइं अ सि आ उ सा जं वासरि फलु दिंति ।
इक्कसएण वि तं जि फलु सत्तक्खरइं ण भंति ॥ २१६ ॥

गरुडहं भावइं परिणवइ रे जिय जाव हि मंति ।
ताव हि णरु विसधारियउ उट्ठावइ ण हु भंति ॥ २१७ ॥

जिणु गुणु देइ अचेयणु वि वंदिउ णिंदिउ दोसु ।
इउ णियभावहं तणउ फलु जिणह ण रोसु ण तोसु ॥२१८॥

---

१ क. करहिं. २ अ. कमलदल. ३ अ. किं ठिवजइ.
४ अ. किं. ५ अ. द. जाहि. ६ क. ज. द. उट्ठावहि.

२११. पाप पुण्य की समता से मोक्ष — जिसके मन में पुण्य और पाप समान नहीं हैं उसे भवसिन्धु दुस्तर है। क्या कनक या लोहे की निगड (शृंखला) प्राणी का पादबन्धन नहीं करतीं ?

२१२. कमलाकार सिद्धचक्र की पूजा — स्वर, विन्दु और मात्रा सहित सपत्र कमल का विकाश किये विना यदि कोई कल्पवृक्ष की वाञ्छा करे तो वह कामी है इसमें क्या सन्देह है ?

२१३. जिनप्रतिमा की भावना का फल — हृदयकमल में भाई हुई चन्द्रधवल, स्फटिक के समान शुद्ध, जिनेश्वर की प्रतिमा चतुर्गति के पाश ( बन्धन ) को तोड़ती है।

२१४. अ सि आ उ सा ( पंच-परमेष्ठी ) — जिसके हृदय में अ सि आ उ सा हैं उसे पाप नहीं लगता। जो गहरे पानी में स्थित है उसका दावानल क्या कर सकता है ?

२१५. पापनाशक मंत्र — हे जीव, इस सात अक्षरों के मंत्र से सब पाप दूर भागते हैं। सिंह की गुंजार में कहीं हरिण कुल ठहर सकते है ?

२१६. जप — अ सि आ उ सा का प्रतिदिन दो सौ ( जप ) जो फल देता है वही फल सौ से भी होता है और सात अक्षरों से भी। इसमें भ्रान्ति नहीं।

२१७. मंत्र से विषनाश — हे जीव, जब मांत्रिक गरुड़भाव में परिणत हो जाता है उसी समय वह विष से मूर्च्छित मनुष्य को उठा देता है। इसमें भ्रान्ति नहीं।

२१८. स्वभावानुसार फल — अचेतन भी जिन ( प्रतिमा ) वन्दने से गुण और निन्दा करने से दोष देती है। यह अपने भावों का ही फल है। जिन भगवान् को न रोष है न तोष।

मणुयत्तणु दुल्लहु लहिवि भोयहं पेरिउ जेण ।
इंधणकज्जें कप्पयरु मूलहो खंडिउ तेणं ॥ २१९ ॥

दुल्लहु लहिवि णरत्तयणु विसयहं तोसिउ जेण ।
पट्टोलयतग्गंथियहं सुरयणु फोडिउ तेण ॥ २२० ॥

दुल्लहु लहि मणुयत्तणउ भोयहं पेरिउ जेण ।
लोहकज्जि दुत्तरतरणि णाव वियारिय तेण ॥ २२१ ॥

दुण्णि सयइं तिसुत्तरइं पढियइं सिवगइं दिंति ।
धम्मधेणु संदोहयहं वरपउ दिंति ण भंति ॥ २२२ ॥

णयसुरसेहरमणिकिरणपाणिय पयपोमाइं[6] ।
संघहं जांहं समुल्लसहिं ते जिण दिंतु सुहाइं ॥ २२३ ॥

दंसणु णाणु चरित्तु तउ रिसिगुरु जिणवरदेउ ।
बोहिसमाहिए सहुं मरणु भवि भवि हुज्जउं एउ ॥ २२४ ॥

इय सावयधम्मदोहा समत्ता ।

---

१ ज. भ. में यह दोहा नही है. २ क. फेडिउ. ३ अ. वावीसुत्तरइं. ४ ज. सिवसुहु. ५ क. णव. ६ क. जे पाणियपोमाइं; द. द्युतिपाणियपोमाइं. ७ अ क. ज. द. जाइ. ८ अ. तेण जिणुत्त सहाइ. ९ अ. सिरि° १० क. दिज्जउ एहु.

२१९. दुर्लभ मनुजत्व को पाकर जिसने उसे भोगों में
मनुष्य जन्म का प्रेरा उसने इन्धन के लिये कल्पतरु को मूल से
दुरुपयोग काट डाला।

२२०. दुर्लभ नरत्व का लाभ पाकर जिसने विषयों में संतोष माना उसने छत्रपट में गांठ देने के लिये (?) उत्तम रत्न को फोड़ डाला।

२२१. दुर्लभ मनुजत्व को पाकर जिसने उसे भोगों में प्रेरा उसने दुस्तरतरणि नाव को उसका लोहा निकालने के लिये तोड़ डाली।

२२२. ये बीस ऊपर दो सौ दोहे पढने से शिवगति देते
इस ग्रंथ के हैं। धर्मधेनु अच्छे दोहकों ( दुहने वालों ) को
पढने का फल उत्तम पय ( दुग्ध या पद ) देती है इसमें भ्रान्ति नहीं।

२२३. नमस्कार करते हुए देवों के मुकुटमणियों के
सुख की प्रार्थना किरणरूप पानी के संसर्ग से जिनके कमलरूपी चरण प्रकाशमान हैं वे जिनदेव सुख प्रदान करें।

२२४. दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप, ऋषि-गुरु, जिनवर-देव
अन्तिम विनति और बोधिसमाधि सहित मरण, ये भव भव में होवें।

इति श्रावकधर्मदोहा समाप्त।

# परिशिष्ट

किसी किसी पोथी में कुछ दोहे अधिक पाये जाते हैं जो प्रक्षिप्त ज्ञात होते हैं। वे यहां उद्धृत किये जाते है।

दोहा नं. २२ और २३ के बीच भ. प्रति में —

**मज्जहु तिजहु भव्वयणु जेण मई विपरीय।**
**हीणकुलेसु य जोय कही तसथावर उवजंति ॥**
**परिहरि मांसहु अरि जिय पंचेहिं णासी पसेहि ।**
**तस्सु वि थावर धाइही सम्मोछिय बहु होइ ॥**

**अनुवाद**—हे भव्यजन मद्य को त्यागो जिससे मति विपरीत हो जाती है। वह हीनकुलवालों के योग्य कही है। उसमें त्रस और स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं।

रे जीव, मांस का परिहार कर। वह पंचेन्द्रिय जीवों के नाश से प्राप्त होता है। उसमें भी त्रस, स्थावर व सम्मूर्छन जीव बहुत होते हैं।

दोहा नं. २८ और २९ के बीच क. प्रति में—

**चउ य इंदिय बिण्णि छह अट्ठह तिण्णि हवंति ।**
**दह चउरिंदिय जीवडा बारह पंच हवंति ॥**

इसमें जीवभेदों की संख्या दी है। इसके लिये 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' देखिये।

दोहा नं. ३६ और ३७ के बीच क. प्रति में—

उक्तं च—सामान्यतो निशायां च जलताम्बूलमौषधम् ।
गृह्णातु चैव गृह्णन्तु नैव ग्राह्यं फलादिकम् ॥

यह दोहा नं. ३७ के भाव की पुष्टि के लिये अन्य ग्रन्थसे उद्धृत किया गया है।

दोहा नं. ७६ और ७७ के बीच भ प्रति में—

भरहे पंचमकालहिं ण स्सेणी महव्वयधारी ।
अत्थि अणुव्वयधारी कोट्टिहिं लक्खेसु कोई ॥

अनुवाद—भरतक्षेत्र में, पंचमकाल में, श्रेणीबद्ध महाव्रतधारी (मुनि) नहीं होते। अणुव्रतधारी भी लाखों करोड़ो में कोई होता है।

दोहा नं. १८१ और १८२ के बीच क. प्रति में—

जिणु ण्हावइ उत्तमरसहिं सक्करअम्मभवेहिं ।
सो नरु जम्मोवहि तरहि इत्थु म भंति करेहि ॥
जो घियकंचनवण्णडइ जिणु ण्हावइ धरि भाउ ।
सो दुग्गइ गइ अवहरइ जम्मि ण ढुकइ पाउ ॥
दुद्धे जिणवरु जो ण्हवइ मुत्ताहलधवलेण ।
सो संसारि ण संभवइ मुच्चइ पावमलेण ॥
दुद्धझडाबढि उत्तरइ वडवड दहिउ पडंति (°तु) ।
भवियहं मुच्चइ कलिमलहं जिणदिट्ठउ विहसंतु ॥
सव्वोसहि जिणण्हाहियइं कलिमलरोय गलंति ।
मणवंछियसय संभवहिं मुणिगण एम भणंति ॥

अनुवाद–जो जिन भगवान् को शक्कर और आम्रके उत्तम रसों से नहलाता है वह नर जन्मोदधि को तरता है इसमें भ्रांति मत करो.

जो कंचनवर्ण घृत से जिन भगवान् को भाव धारण कर नहलाता है वह दुर्गति गति को दूर करता है और जन्मभर उसे पाप नहीं लगता ।

जो मुक्ताफल के समान धवल दूधसे जिनवर को स्नान कराता है वह संसार में उत्पन्न नहीं होता और पापमल से मुक्त होजाता है ।

दुध की धार के पश्चात् शीघ्र दधि पड़ता हुआ तथा जिन भगवान् को देखकर प्रसन्न होता हुआ भव्यों को कलिमल से मुक्त कर देता है ।

सर्वौषधि से जिन भगवान् को नहलाने से कलिमल के रोग दूर हो जाते हैं और सैकड़ों मनोवाञ्छित सिद्ध होते हैं । ऐसा मुनिगण कहते हैं ।

दोहा नं. २०६ और २०७ के बीच अ प्रति में—

**पारंभइं ण्हवणाइयइं जे सावय जि भणंति ।**
**दंसण तेहं विणासियउ एत्थु ण कायउ भंति ॥**

( यह दोहा नं. २०४ से मिलता है )

दोहा नं. २२३ और २२४ के बीच क. प्रति में—

**जो जिण सासण भासियउ सो मइं कहियउ सारु ।**
**जो पालेसइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु ॥**
**एहु धम्म जो आयरइ चउवण्णहं मह कोइ ।**
**सो णरु णारी भव्वयणु सुरयइ पावइ सोइ ॥**

काइं बहुलइं झंखियइं तालू सूखइ जेण ।
यहु परमक्खरु चेर लइ कम्मक्खउ हुइ तेण ॥
भव्वयलग्गा सुवयण सुग्गइ गच्छइ तेण ।
जह दिट्ठिवउ भवगयह कहिउ ण किव्वउ तेण ॥

अनुवाद्–जो जिनशासन में कहा गया है वही सार मैंने कहा है। जो भाव करके इसको पालेगा वह तैर के पार पावेगा।

इस धर्म का चतुर्वर्ण में से कोई भी जो आचरण करेगा वह नरनारी भव्यजन सुरगति पावेगा।

बहुत प्रलाप करने से क्या जिससे तालू सूखे। इसी परमाक्षर को चिरकाल तक लेओ जिससे कर्मक्षय होवे।

भव्यों के जो सुवचन हैं उनसे सुगति को जाता है। जिससे भवगति को देखना पड़े ऐसे कथन को नहीं करना चाहिये।

दोहा नं. २२४ के पश्चात् क. प्रति में—

✓ इय दोहावद्धवयधम्मं देवसेनै उवदिट्ठ ।
लहु अक्खरमत्ताहीयमोपय सयण खमंतु ॥

अनुवाद्–इति देवसेन द्वारा उपदिष्ट दोहावद्ध व्रतधर्म। लघु अक्षर मात्रा से हीन जो पद हों उन्हे सज्जन क्षमा करें।

# शब्दकोश

इस कोष में संज्ञायें विना विभक्ति के तथा क्रियायें यथाप्रयोग सम्मिलित की गई हैं और उनके संस्कृत रूपान्तर दिये गये हैं। जो संस्कृत शब्द हिन्दी में उपयुक्त नहीं होते उनके हिन्दी रूपान्तर या समानार्थ शब्द दिये गये हैं। जो शब्द कईवार एक ही अर्थ में आया है उसका एक ही दोहा नंबर दिया गया है।

निम्न लिखित संकेताक्षरों का प्रयोग किया गया है:—

गु. – गुजराती; पु. – पुरुष; म. – मराठी; मार. – मारवाडी; हेम. – हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण.

## अ

**अइदित्त** – अतिदीप्त, १७२.

**अइदूरुज्झिय** – अतिदूरोज्झित, १७१.

**अक्खमि** – आख्यामि, कहता हूं, १.

**अक्खय** – अक्षत, १८५.

**अक्खिय** – आख्यात, १७८.

**अगालिअ** – अगालित, विनाछना, २७.

**अगाह** – अगाध, १८६.

**अग्गि** – अग्नि, आगी, २९.

**अचेयण** – अचेतन, २१८.

**अच्चइ** – अर्चयति, पूजता है, १८९

**अच्छउ** – आस्ताम्, दूर रहे, ३०

**अज्जु** – अद्य, आज, ८८.

**अज्झवसाय** – अध्यवसाय, १२२

**अट्ठ** – अष्ट, आठ, २०.

**अट्ठम** – अष्टम, आठवां, १५.

**अट्ठमि** – अष्टमी, १३.

**अणतोरिय** – अ+तुवरित, ५६.
(तुवरी - फिटकरी, म तुरटी, alum.)

**अणत्थ** – अनर्थ, ४८.
**अणाअ** – अन्याय, १४४.
**अणबोल्लिय** – अनुक्त, विना बुलाया, ११५.
**अणायतण** – अनायतन, २०. (कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, तथा इन तीनों के पूजने वाले ये छह अनायतन कहलाते है.)
**अणिवारिय** – अनिवारित, १२२.
**अणुमइ** – अनुमति, १६.
**अणुराअ** – अनुराग, २५.
**अणुवय** – अणुव्रत, ५९. (हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील और परिग्रह इनका गृहस्थ के सधने योग्य अणुरूप त्याग को अणुव्रत कहते है.)
**अणुसरहिं** – अनुसरन्ति, अनुसरण करते है, ११७.
**अण्ण** – अन्य, ३५.
**अण्णाअ** – अन्याय, १४५.
**अण्णायपवित्ति** – अन्याय+प्रवृत्ति १४६.
**अण्णुवइट्ठ** – अन्य+उपदिष्ट, २४.
**अत्तागम** – आप्त + आगम, देव और शास्त्र, १९.
**अत्थमिय** – अस्तमित, सूर्यास्त, ३७.
**अपत्त** – अपात्र, ७८.
**अप्पणअ** – आत्मनः, अपना, ८४.
**अप्पणिय** – आत्मीय, अपनी, १४६
**अप्पत्थ** – अपथ्य, ४१.
**अप्पिय** – अर्पित, ८४.
**अभयदाण** – अभयदान, १५६.
**अमिअ** – अमृत, २.
**अमियघड** – अमृत+घट, १६८.
**अमियसरिस** – अमृतसदृश १७८
**अयाण** – अजानत्, अजान १५७.
**अरहंत** – अर्हत्, ४.
**अलिय** – अलीक, असत्य, ६१.
**अलिय** – अलि (भ्रमर), अलीक (असत्य), १७३.
**अवगण्णि** – अवगणय, गिनो, २०
**अवर** – अपर, और, ११९.
**अवस** – अवशम्, अवश्य, ३९.
**अवसि** – अवशम्, अवश्य, ६०.
**अविण** – अविन, पार, १००.
**अविरय** – अविरत, व्रतरहित, ७९
**असक्क** – अशक्त, १६८.

अ सि आ उ सा – अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, इन पंच परमेष्ठी का अल्पाक्षर मंत्र, २१४.

असेस – अशेष, १६५.

असोअ – अशोक ( वृक्ष ), १७१.

अह – अथ, २६.

अह व – अथ वा, ६

अहम्म – अधर्म, अधर्मी, १०३.

अहाणअ – आभाणक, अहाना, २४

अहिलसइ – अभिलषने, इच्छा करता है, ४२.

अहिलसिअ अभिलषित, ३७

अहिलास – अभिलाष, ५१.

अंजणगिरि – अंजनगिरि २९.

अंतरि – अन्तरे, अन्दर, २२.

अंधार – अंधकार, ६.

अंब – आम्र, आम, १६०.

## आ

आउ – आयातु, आवे, ५८.

आउसंत – आयुस्+अन्त, ७३.

आमिस – आमिष, मांस, २८.

आयरइ – आचरति, आचरण करता है, ७६.

आयहं – एषाम्, इनके, २१.

आयास – आकाश, ५७.

आरत्तिअ – आरात्रिक, आरती, १९५.

आराहण – आराधना, १९३. ( भगवती आराधना नाम का ग्रंथविशेष )

आवइ – आयाति, आवे, ८८.

आवग्ग – आरूढ, बढा, १४८.

आवंति – आयान्तीं, आतीं, १४५.

आसागय – आशा+गत, दिशागमन, ६६.

आसायअ – आस्वादित, २३.

आसि – आसीत्, १५६.

## इ

इकाछिद्दिय – एक+छिद्रित, १६१.

इक्क – एक, ४३.

इक्कसअ – एकशत, २१६.

इच्छिय – इष्ट, १९०.

इच्छियलद्धि – इष्ट+लब्धि, ७१.

इणि – अनेन, इस से, २०५.

इत्तिय – इयत्, इतना, १०७.

इत्थु – अत्र, इसमें, ७१.

इयर – इतर, अन्य, ३८.

इंछिय – इष्ट्वा, इच्छा करके, ६३.
इंदियगाअ – इन्द्रिय+ग्राम, १४०.
इंधण – इन्धन, २१९.

उ

उक्किट्ठ – उत्कृष्ट, ७४.
उग्गमइ – उद्गच्छति, उदय हो, १०५.
उग्घाडंत – उद्+घाटयत्, उघाडने वाले, १३५.
उज्जल – उज्वल, ११३.
उज्जोइज्जइ – उद्+द्युत्यते, उजाला किया जाता है, १८४.
उज्जोयइ – उद्+द्योतयति, उजाला करता है, १९६.
उट्ठइ – उत्तिष्ठति, उठता है, ३९.
उट्ठावइ – उत्थापयति, उठाता है, २१७.
उट्ठिय – उत्थित, उठा हुआ, १५३.
उणाली – शाकविशेष, ३४.
उण्णय – उन्नति, ११४.
उत्तमपइ – उत्तमपदे, °पदपर, ११४.
उत्तार – उत्तरण, उतार, १९२.
उत्तारंति – उत्तारयन्ती, उतारती हुई ८६.
उत्तिडअ – उत्तरीय, वस्त्र, १५१.
उद्दिट्ठ – उद्दिष्ट, १६.
उप्पज्जइ – उत्पद्यते, उपजता है १७१
उप्परि – उपरि, ऊपर, १२६.
उप्पहिं – आत्मना, उपतकर ८४.
उप्पाडिअ – उत्पाटित, उपाड़ा, ४०.
उब्भासइ – उद्+भासयति, उज्वल करता है १९६.
उम्मग्ग – उन्मार्ग, १४५.
उर – उरस्, उर, ६०.
उल्हाविअ – आर्दित, आला (गीला) किया, ३९.
उवइट्ठ – उपदिष्ठ, १६.
उवएस – उपदेश, ६.
उवएसिय – उपदिष्ट ८.
उवयरइ – उपकरोति, उपकार करता है, ११९.
उवयारहि – उपकारय, उपकार कराओ, ११९.
उववास – उपवास, १३.
उववासब्भास – उपवास+अभ्यास ११९.

**उवसमइ** उपशाम्यति, शांत होता है, १४२.

**उवहि** - उदधि, २०७.

**उवहिणीर** - उदधि+नीर, ८९.

**उवहिवेल** - उदधि+वेला, १९५.

**उव्वरइ** - उपकरोति, उबारता है, या,उद्वर्तते, बचता है, १२१.

**उहय** - उभय, दोनों, १३.

**उंदुर** - उंदुरु, मूषक, १५१.

## ऊ

**ऊसर** - ऊषर, ऊसर (अनुपजाऊ) ८३.

## ए

**ए** - एते, ये, १८.

**एउ** - एतत्, यह, २२४.

**एक्क** - एक, १०.

**एत्तडअ** - एतावत्, इतने, ५३.

**एयवत्थ** - एकवस्त्र, १७.

**एयारस** - एकादश ग्यारह, १८.

**एयारह** - एकादश, ग्यारह, ९.

**एयारहम** - एकादशम, ग्यारहवां १६.

**एरिस** - ईदृश, ऐसी, १७५.

**एवड्ड** - एतावत्, इतनी १७९.

**एवंविह** - एवंविध, इस प्रकार, १८०.

**एह** - एषा, यह, १७९.

**एहु** - एषः, यह, २४.

## ओ

**ओसहदाण** - औषधदान, १५७

**ओहट्टइ** - अपभ्रश्यते, टूटता है, १४९.

## क

**कअ** - कृत, किया, ८३.

**कउ** - का, क्या, ६८.

**कक्कसवयण** - कर्कश+वचन,१४४

**कच्च** - काच, कांच, २.

**कच्चासण** - अपक्वाशन, कच्चा भोजन, १४.

**कज्ज** - कार्य, २१.

**कट्टिय** - कृत्त, काटा गया, १५०.

**कट्ठ** - काष्ठ, काठ, ३८.

**कट्ठडा** - कष्ट, ११४.

**कड्ढंत** - कर्षत्, काढनेवाला, ९९.

**कड्ढिय** - कृष्ट, काढा या खींचा, १२१.

**कणय** – कनक, २११.

**कणिट्ठ** – कनिष्ठ, सबसे छोटा ७९.

**कण्ण** – कर्ण, कान, ११८.

**कत्तरि** – कर्तरी, कैंची, १७.

**कद्दम** – कर्दम, कीच, १५३.

**कप्पड** – कर्पट, कपड़ा, ५६.

**कप्पयर** – कल्पतरु, ९७.

**कप्पयरु** – कल्पतरु, २१२.

**कम** – क्रम, १२.

**कम्म** – कर्म, १०९.

**कम्मक्खअ** – कर्म+क्षय, २१०.

**कय** – कृत १७.

**करइ** – करोति, करता है, १८१.

**करउं** – करोमि, करूं, ८८.

**करड** – शाकविशेष, करडा, ३४.

**करहि** – कुरु, कर, ४.

**करहिं** – कुर्वन्ति, करते है, ५५

**करालिय** – करालित, १८३.

**करि** – कुरु, कर, २२.

**करिणि** – करिणी, हस्तिनी,१२३

**करेइ** – कुर्यात्, करेगा, ६२.

**कलंतर** – कला+अन्तर, एक भाग ११५.

**कलिंग** - फलविशेष, कलींदा, ३४.

**कल्लाण** – कल्याण, ८०.
[ तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण के उत्सव पंच कल्याण कहे जाते हैं । ]

**कल्लि** – श्वः, कल, ८८.

**कवण** – का, कौन, ४०.

**कवित्त** – कवित्व, १४२.

**कवेडअ** – कपट, ६२.

**कस** – कश, ७.

**कसाय** – कषाय, ६१.

**कह** – कथा, ४०.

**कहिअ** – कथित, ९.

**कहिवि** – कथयितुम्,कहने,२०१.

**कहिं** – कुत्र, कहीं, २१५.

**कंज** – ( तत्सम ), कमल, १२५.

**कंजिय** – कांजी, ( Butter-milk, ) १३३.

**कंटअ** – कंटक, १४५.

**कंदि** – स्कन्न, शुष्क, सूखा, १५७.

**काअ** – काय, शरीर, ११३.

**काइं** – किम् , क्या, ६२.

**काणण** – कानन, वन, २३.

**कामकह** – काम+कथा, ४५.

**कामिअ** – कामिक, २१२.

कायउ – कापि, कोई भी, १८९.
काराविय – कारित, कराई, १९२.
कारियइ – कार्यते, कराया जाता है, २४.
कालत्तय – काल+त्रय, ५.
कासु कस्य, किसे, १७८.
कि – किम्, क्या, ६.
किअ – कृत, किया, ३७.
कित्ति – कीर्ति, १४२.
कित्तिअ – कियत्, कितना, १८३.
कित्तिअ – कियत्ता, कितनापन, ११०.
किम – किम्, कैसे, ५६.
किमि – किम्, कैसे, ६७.
किय – कृत, किया, १५५.
किलेस – क्लेश ४८
किविण – कृपण, ८९.
कीरइ – क्रियते, किया जाता है, २४.
कुडिल्लिय – कु०३, ११२.
कुडुंब – कुटुम्ब, ४८.
कुणहिं – कुर्वन्ति, करतीं, २११.
कुपत्त – कुपात्र, ८१.
कुभोअ – कुभोग, ८१
कुभोयण – कुभोजन ९३.
कुमुयाणंदिणि – कुमुदानन्दिनी, १९९.
कुलयर – कुलकर, १६६.
कुसियार – कोशकार, कुसियारा, (रेशम का कीड़ा) १४६.
कुसुमंजलि – कुसुमाञ्जलि, १९१.
कूड – कूट, ४९.
कूडतुला – कूटतुला, कपटतराजू, १६२.
कूवखणय – कूप+खनक, १०२.
कूवय –कूप+क, कुआ, ९९.
केम – किम्, कैसे, १३८.
केवलणाण – केवलज्ञान (सर्वज्ञता) ५.
कोइ – कोऽपि, कोई, ६.
कोवीण – कोपीन, १७.
कोहमल – क्रोध+मल, १३१.

## ख

खअ – क्षय, ६९.
खडभुस – घास+तुष, घासभुसा, ९२.
खडहड – शिला+घटा, चट्टानसमूह म. खडक–चट्टान, १५४.

खज्जइ – खादति, खाता है, ३२.
खज्जइं – खादितेन, खानेसे, ३६.
खम – क्षम, योग्य, ७.
खंचहि – कर्ष, खैंच, १३०.
खंडिय – खंडित, काटा, २१९.
खंडिवि – खंडयित्वा, काटकर, १५२.
खंधार – स्कंधावार, सेना, ५१.
खाइ – खादति, खाय, २८.
खाणि – खानि, ४८.
खार – क्षार, खार, ८१.
खारघड – क्षार+घट, खारा घड़ा, ८१.
खिल्लिय – कीलिका, खिल्ली, १०६
खीरसमुद्द – क्षीरसमुद्र, १६९.
खुट्टइ – खुद्यते, खुँटै, १०८.
खुडिय – खुडित, खोंटे गये, १५२
खोत्तिय – क्षेत्रिता, खेती, ६४.
खेत्ती – क्षेत्रिता, खेती, ५५.
खेरि – द्वेष, १७५.
खेवइ – क्षिपति, खेता है, १८९.
खोज – अन्वेषण, खोज, ८४.
खोडय – खुडित, खोड़ा लगी, १४८.

## ग

गअ – गत, गया, ६१.
गच्छइ – गच्छति, जाता है, ४६.
गड्डायरअ – गर्तक, ५८. (a table for playing dice, Apte: Dic.)
गणिय – गणयित्वा, गिनकर, २०५
गमणट्ठिय – गमन+स्थित, १९२.
गय – गत, ३.
गय – गज, १४७.
गयण – गगन, १३२.
गविणिट्ठ – गवि+निष्ठा, इन्द्रिय+आसक्ति, १६४.
गह – ग्रह, १९८.
गहिय – गृहीत, १७७.
गहिर – गभीर, गहिरा, २१४.
गंधोअ – गंधोदक, १८४.
गाइ – गौ, गाय, ९२.
गाल – गल, मछली फकड़ने का कांटा, १२४.
गालिअ – गालित, गाला या छना हुआ, २६.
गिण्हइ – गृण्हाति, गहता है, १६२.
गिर – गिर्, गिरा, वाणी, १७८.

**गिहत्थ** – गृहस्थ, ८७.

**गिंदुअ** – कंदुक, गेंद, १५३.

**गिंभ** – ग्रीष्म, ६९.

**गुणवय** – गुणव्रत, ११ (दिशाओं व देश-प्रदेश मे जाने का प्रमाण, तथा अनर्थ दण्ड का त्याग, ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं ).

**गुणवंत** – गुणवत्, गुणवान,१४१.

**गुलिय** – गुलित, गुडीला ( मीठा ) १३३.

**गुंजारिय** – गुंजारित, गुंजार, २१५.

**गेय** – ( तत्सम ), गीत, १२७.

**गेहोवरि** – गेह+उपरि, १०२.

**गोल्ल** – गोल, ४८.

**गोवहि** – गोपय, गोप या गुप्तरख, १२१.

## घ

**घडंति** – घटायन्ते, घटयुक्त होते हैं, ९९.

**घम्म** – घर्म, घाम, १०३.

**घयपय** – घृत+पयस्, घी दूध, १८१.

**घर** – गृह, ८७.

**घरयर** – गृहकर, घर बनाने वाले, १०२.

**घल्लइ** – क्षिपति, घालता है, १६९.

**घंट** – घंटा, १९९.

**घाअ** – घात, घाव, ६०.

**घाणिंदिय** – घ्राणेन्द्रिय, १२५.

**घाय** – घात, ७.

**घारइ** – मूर्च्छयति, मूर्च्छित करती है, ५०, म. घेरी मूर्च्छा.

**घिय** – घृत, घी ३२.

**घूयड** – गुग्गुल, घुग्घू, १०५.

## च

**चइवि** – व्यक्त्वा,चयकर या त्यागकर, ७३.

**चउगइ** – चतुर्गति, १३४.

**चउत्थ** – चतुर्थ, १३.

**चउद्दसि** – चतुर्दशी, १३.

**चउरट्ठ** – चतुरष्ट, ( बत्तीस ),१२.

**चउविह** – चतुर्विध, १५८.

**चउसट्ठि** – चतुःषष्ठि, चौसठ, १७६

**चक्कि** – चक्रिन्, चक्रवर्ती, १७७.

**चक्खइ** – चषति, चखता है, १६०

**चच्चइ** – अर्चयति, पूजता है, १८४

**चडप्फडहि** – परिस्फुरति, तड़फड़ाते है, १८४.

चडप्फाडिवि – परिस्फुर्य, तड-फडाकर, १२४.
चढहिं – आरोहन्ति, चढते हैं, १०२.
चत्तारंभ – त्यक्त+आरम्भ, आरम्भत्यागी, १५.
चम्मच्छअ – चर्माच्छादित, ३२.
चम्मट्ठिसुर – चर्म+अस्थि+सुरा, ३३.
चयारि – चत्वारि, चार, ११.
चरिअ – चरित, १३३.
चरित्त – चरित्र, २२४.
चलण – (तत्सम), चरण, १७३.
चलिय – चलित, ३५.
चलंत – चलत्, चलनेवाला, १४५.
चवहि – ब्रूहि, बोल ( धातु-वच् ) ६१.
चंडाल – चाण्डाल, १३१.
चंदकंति – चन्द्रकान्त ( मणि ), १९७.
चंदण – चन्दन, १५०.
चंदोव – चन्द्रोपक, चंदेवा, १९८.
चाअ – त्याग, २५.
चाहहि – इच्छसि, चाहता है, १५९
चिराउस – चिरायुस्, चिरायु, १५६.
चिहुर – चिकुर, केश, १७.
चिंध – चिह्न, ध्वज, २००.
चोज्ज – आश्चर्य, चौज, २००.
चोरडा – चौर, चोर, ७५.

छ

छट्ठय – षष्ठम, छटवां, १४.
छड्डिय – छर्दित, छोड़ा, ३९.
छणजामिणि – क्षण+यामिनी, पूर्णिमा रात्रि, १९९.
छणससि – क्षण+शशि, पूर्णिमा चन्द्र, १७७.
छत्त – छत्र, १७७.
छह – षट्, छह, २०
छंडहु – छर्दय, छोड़ो, १७५.
छंडि – छर्दय, छोड़, ६७.
छंडिय – छर्दित, छोड़ा, २५.
छंडेइ – छर्दयेत्, छोड़े, ९३.
छिज्जउ – क्षीयताम्, क्षय होवे, १३५.
छित्त – स्पृष्ट, छुआ, १३१.
छुड्डु – यदि, ५८.
छेय – छेद, ७.

ज

जइ – यदि, ६५.

जेम – यथा, जैसे, १३४.
जोडिय – योजित, जोडे हुए, ११४
जोयहिं – पश्यन्ति, जोहते है, ११८

झ

झायहि – ध्याय, ध्यान कर, १०८
झुणि – ध्वनि, १७८.

ट

टालइ – टालयति, भग्न करता है, १५१.
टिक्क – टीका, १९३.

ठ

ठंति – तिष्ठन्ति, ठहरते हैं, ५४,
ठाअ – स्थान, ठांव, १६९.
ठाइ – तिष्ठति, ठहरता है, १९७.
ठाण – स्थान, १८.
ठाहरइ – तिष्ठति, ठहरता, १३२.
ठिअ – स्थित, १३२.
ठिय – स्थित, २१४.

ड

डज्झंत – दह्यमान, डाते हुए, ५२.
डरहि – त्रस्यसि, डरता है, १५६.
डल – दल, पीतल आदि नीच धातु, १३६.
डहइ – दहति, ढा देता है, २३.
डाल – शाखा, डाल, ६१; ९५.

ढ

ढिल्ल – शिथिल, ढीला, १२९.
ढुकइ – ढौक्यते, आवे, ६०; ११२; १८७.

ण

ण – न, १०.
ण – नु, ननु ( निश्चयार्थवाचक अव्यय ) ८४, १३७, १४२, १९२, १९६.
णइसारिण – नदी+सारण, १८६.
णच्चइ – नृत्यति, नाचता है, १६२.
णडपेखण – नट+प्रेक्षण, नट का तमाशा, १६२.
णमकारेपिणु – नमस्कृत्य, नमन करके, १.
णमिय – नमित, नवी हुई, ५५.
णय – नत, २२३.
णयणाणंदयरि – नयनानन्दकारिणी, १७९.
णर – नर, ४४.
णरत्तयण – नरत्व, २२०.
णरय – नरक, ४२.
णरयगइ – नरकगति, १६१.

णवइ – नमति, नवता है, ११६.
णवम – नवम, नौमां, १५.
णं – ननु, २७.
णंद – नन्द, आनन्द, १३७.
णंदीसर – नन्दीश्वर ( द्वीप ) २०२.
णाअ – न्याय, ११३.
णाइक – नायक, ५१.
णाण – ज्ञान, ७.
णाणुब्भाम – ज्ञानोद्भम, १७०.
णाय – नाग, १७७.
णायकुमार – नागकुमार, पु., १११.
णायदत्त – नागदत्त, पु., १११.
णारि – नारी, १४.
णाव – नौ, नाव, १५४.
णाविय – नाविक, १५४.
णास – नाश, १८७
णासइ – नाशयति, नाश करता है, २३.
णासंति – नश्यन्ति, भाग जाते है, ७५.
णासंति – नश्यन्ति, नष्ट होते हैं, १३८.
णा हि – न हि, १४.
णाही – न हि, म. नाही, ११०.
णिक्कमण – निष्क्रमण, १६९.
णिग्गय – निर्गत, २००.
णिच्चल – निश्चल, ५८.
णिच्छाअ – निश्छाय, निष्प्रभ, १४०.
णिट्ठ – निष्ठा, ५५.
णिट्ठडी – निष्ठा, ११५.
णिद्धण – निर्धन, ११४.
णिप्फल – निष्फल, ५५.
णिम्मल – निर्मल, ११.
णिय – निज, २१८.
णियर – निकर, समूह, १९४.
णियल – निगड, शृंखला, २११.
णियलंकुस – निगड+अंकुश, १२३.
णियसत्ति – निजशक्ति, १२१.
णिरग्गल – निरर्गल, १३५.
णिरत्थ – निरर्थ, ११९.
णिरारिउ – निश्चयेन, ४६.
णिलज्ज – निर्लज्ज, १५९.
णिवडइ – निपतति, गिरेगी, १५४.
णिवडंति – निपतन्ति, गिरते हैं, १७३.
णिवडिय – निपतित, ८१.

णिवसइ – निवसति, बसता है, ५४.

णिवारहिं – निवारय, निवार, १२६.

णिवास – निवास, १४३.

णिविट्ठ – निविष्ट, बैठा, ६१.

णिवित्ति – निवृत्ति, १०.

णिव्वाण – निर्वाण, ५९.

णिव्वाह – निर्वाह, १४९.

णिसेणि – निःश्रेणी, नसेनी, ५०.

णिहाण – निधान, ८०.

णित – नयत्, ले जाता हुआ, ८५.

णिंति – नयन्ति, ले जाते हैं, ५९.

णिंदिअ – निन्दित, २१८.

णीर – नीर, पानी, २६.

णीरुक्ख – निर्वृक्ष, ७७.

णेह – स्नेह, १५१.

णेवज्ज – नैवेद्य. १८७.

ण्हवणाइय – स्नपनादिक, २०४.

ण्हविज्जइ – स्नाप्यते, नहलाया जाता है, १८१.

ण्हाण – स्नान, १३१.

ण्हावइ – स्नापयति, नहलाता है, १८१.

ण्हाविज्जइ – स्नाप्यते, नहलाया जाता है, १६८.

ण्हाविय – स्नापित, नहलाया गया, १६८.

ण्हाविय – स्नापयित्वा, नहलाकर, १८२.

## त

तउ – तपस्, तप, ७.

तउमंडय – तपोमंडित, ३१.

तग्गंथिय – तद्+ग्रन्थि, गांठ, २२०.

तच्चाइय – तत्त्व+आदिक, १८.

तडत्ति – तद् इति शब्देन, तड् से, १००.

तणइ – (सम्बंध सूचक), २०५.

तणु – तनु, शरीर, १०७.

तमहरणि – तमोहारिणी, १९९.

तमिण – तमसा, तम से, २.

तरइ – तरति, तरता है, १३४.

तरिहहि – तरिष्यसि, तरेगा, ६७.

तरंड – (तत्सम), डोंगी, १९२.

तलाअ – तडाग, तलाव, १७०.

तवयरण – तपश्चरण, ७३.

तस – त्रस (जंगम जीव), ९९.

तसु – तस्य, तिसके, ३२.

तह्मा – तस्मात्, तिससे, १०१

तहिं – तत्र, तहां, ५४.

तं – तत्, तिसे, १९.

तंबोलोसह – ताम्बूल+औषध, ३७

ता – तर्हि, तो, ३९.

ताइं – तानि, ते, ५९

ताडिअ – ताडित, १५३.

तामच्छउ – तावत् आस्ताम्, तो रहे, ३१.

तारइ – तारयति, तारता है, ८४.

तारायण – तारागण, १९८.

ताल – वृक्षविशेष, १०३.

तासु – तस्य, ५.

ताहं – तेषाम्, तिनके, ३०.

तिज्जअ – तृतीय, तीजा, १२.

तिडिक्क – स्फुलिंग, तिलगा, २३.

तिण्णि – त्रीणि, तीन, २०.

तित्थु – तत्र, तहां, ११९.

तित्थंकर – तीर्थंकर, १६६.

तिरिय – तिर्यक्, पशु, १७५.

तिलय – तिलक, १९७.

तिल्लु – तैल, तेल, ३२.

तिव्वकसाय – तीव्रकषाय, १६१.

तिह – तथा, तैसे, ३.

तिहिं मि – त्रिषु अपि, तीनों में, १२

तिहिं – त्रिभ्याम्, तीन से, ७४.

तुट्ट – त्रुटित, टूटे, १५२.

तुट्टइ – त्रुट्यति, टूटता है, ४४.

तुडइ – त्रुट्यति, बिगड़ जाता है, १३३.

तुलाइय – तुला+आदिक, ४९.

तुंबड – तुम्बीफल, तूंबा, ३४.

तोडइ – त्रोटयति, तोड़ती है, २१३.

तोडहुं – त्रोटयितुम्, तोड़ने को, ६४.

तोस – तोष, २१८.

तोसिअ – तोषित, २२०.

थ

थक्कइं – तिष्ठन्ति, ठहरते हैं, ५३.

थलदुक्ख – स्थल+दुख, १२४.

थाम – स्थामन्, बल, १८३.

थिप्पंति – तृप्यन्ति, तृप्त होते हैं, या विगलन्ति, १७ (हेम. ४, १३८; १७५.)

थिर – स्थिर, २०८.

थोडउ वि – स्तोकमपि, थोड़ा भी, २३.

थोडिय – स्तोका, थोड़ी, १३३.

थोवड – स्तोक, थोड़ा, ९०.

## द

दट्ठ – दष्ट, दशा हुआ, ६३.

दम्म – दाम, एक सिक्का, ११५.

दय – दया, ४०.

दसम – दशम, दशवां, १६.

दहिमहि – दधि + मथित, दही मही, ३५.

दंसण – दर्शन ( सम्यग्दर्शन, धर्म-श्रद्धा ), २०.

दंसणसुद्धि – दर्शन+शुद्धि, ३२.

दाण – दान, ७०.

दाणच्चण – दान+अर्चन, ११७.

दाणंघिव – दान+अंघ्रिप, दानवृक्ष, ८२.

दायार – दातृ, दाता, ८५.

दारिय – दारिका, लौंडी, ४५.

दालिद्द – दारिद्र्य, १८७.

दालिद्दड – दारिद्र्य, ९३.

दालिद्दिय – दरिद्रिन्, दरिद्री, १४८.

दावाणल – दावानल, २१४.

दिज्जइ – दीयताम्, देना चाहिये, ७०.

दिट्ठ – दृष्टा, देखी गई, ५५.

दिट्ठि – दृष्टि, ६३.

दिट्ठिविस – दृष्टिविष ( सर्प-विशेष ), ६३.

दिणयरसअ – दिनकर+शत, सौ सूर्य, १०५.

दिणेस – दिनेश, सूर्य, ६९.

दिण्ण – दत्त, दिया हुआ, ८३.

दिण्णइ – दीयते, दिया जाय, ८१.

दिंति – ददति, देते हैं, १९०.

दिवि – ( तत्सम ) स्वर्ग में, १११.

दिव्वंबर – दिव्य+अम्बर, २०३.

दिस – दिशा, ६६.

दीव – दीप, १८८.

दीवड – दीपक, ६.

दीसइ – दृश्यते, देखी जाती है, ८५.

दुक्कर – दुष्कर, ६४.

दुक्किय – दुष्कृत, १३.

दुग्ग – दुर्ग, दुर्गम, १४८.

दुज्जण – दुर्जन, २.

दुट्ठभरण – दुष्ट+भरण, ६७.

दुण्णिसयइं – द्वि+शत, दो सौ, २२२.

दुत्तर – दुस्तर, २११.

दुत्तरतराणि – दुस्तर+तारिणी, २२१.

धूअ – धूम्र, धुंआ, ३९.

धूव – धूप, १८९.

प

पइठाबइ – प्रतिष्ठापयति, प्रतिष्ठा कराता है, १९५.

पइण्णइ – प्रदीयते, दिया जाता है, ९२.

पइसंत – प्रविशत्, प्रवेश करता हुआ, ४४.

पइं – तुभ्यम्, तुझको, ११२.

पइं – त्वया, तूने, १५५.

पउम – पद्म, कमल, १८.

पउमिणि – पद्मिनी, २०३.

पउर – प्रवर (उत्तम), या, प्रचुर (बहुत), ९४.

पएस – प्रदेश, ५४.

पक्कासण – पक्काशन, ३१.

पच्चक्खउ – प्रत्यक्षम्, ३३.

पच्चूस – प्रत्यूष, प्रातःकाल, १४०.

पट्टोलय – पट्ट+उल्लोच, कपड़ेका छत, २२०.

पडंति – पतन्ति, पड़ते हैं, ५७.

पडिअ – पतित, ६७,

पडिकूल – प्रतिकूल, १०४.

पडिबद्ध – प्रतिबद्ध, बांध लिया, १८९.

पडिम – प्रतिमा, १९२.

पढम – प्रथम, १०.

पढिय – पठित, २२२.

पणास – प्रणाश, ५४.

पणासइ – प्रणाशयति, नष्ट करती है, १८३.

पत्त – पात्र, ३१.

पत्त – पत्र, पत्ता, ४५.

पत्त – प्राप्त, ८४.

पत्तामरसंघाअ – प्राप्त+अमर+संघात, देवों का समूह आया, १७०.

पत्तुत्तम – पत्रोत्तम, १७१.

पभणिअ – प्रभाषित, कहा गया, ७९.

पभणिज्जइ – प्रभण्यते, कहा जाय, ८७.

पमाअ – प्रमाद, ६१.

पमाण – प्रमाण, ५.

पमुह – प्रमुख, ४७.

पय – पद, १८३.

पय – पद, किरण, १९६.

**पयच्छइ** – प्रयच्छति, देती है, ९२.

**पयडक्खर** – प्रकट प्राकृत वा + अक्षर १.

**पयपोम** – पद+पद्म, २२३.

**पयबंध** – पद+बन्ध, २११.

**पयंगडा** – पतंग, १२६.

**पयास** – प्रयास, ९७.

**पयासिअ** – प्रकाशित, २.

**परणिग्घिण** – पर + निर्घृण, बड़ा निर्दयी, ४६.

**परतिय** – परस्त्री, ५०.

**परत्त** – पर+आत्म, दूसरों की आत्मा, १०६.

**परदव्व** – परद्रव्य, ६२.

**परमहिल** – पर+महिला (स्त्री) ६३.

**परमाण** – प्रमाण, ६६.

**परयार** – पर+दारा, ५१.

**पराई** – परकीया, पराई, १२९.

**परायअ** – परकीय, पराया, १५१

**परिग्गह** – परिग्रह, १५.

**परिचत्त** – परित्यक्त, ४५.

**परिचत्तिय** – परित्यक्त, ४५.

**परिणवइ** – परिणमति, परिणमता है, ९१.

**परिपालंत** – परिपालयत्, पालने वाला, ९.

**परियण** – परिजन, १२०.

**परिहरइ** – परिहरति, परिहार करता है, ७७.

**परिहरहि** – परिहर, परिहार कर, २२.

**परिहरि** – परिहर, परिहार कर, २०

**परिहरिय** – परिहृत, २४.

**परिहोइ** – परिभवति, होता है, १००.

**परोहण** – प्रवहण, नौका, १३४.

**पलोट्टइ** – प्रलोटयति, पलटता, १०६.

**पवाण** – प्रमाण, २७.

**पवित्ति** – प्रवृत्ति, १४.

**पवेस** – प्रवेश, ४१.

**पव्वदिण** – पर्वदिन, ६९.

**पसत्थ** – प्रशस्त, ११७.

**पसर** – प्रसर, पसार, १४०.

**पसरइ** – प्रसरति, पसरता है, १८९

**पसरंत** – प्रसरत्, पसरता हुआ, १८२.

**पसिद्ध** – प्रसिद्ध, १०१.

**पसु** – पशु, ६४.

**पसुभार** – पशुभार, ६७.

**पसूइ** – प्रसूति, १८५.

**पहतेअ** – प्रभा+तेजः, १६७.

**पहाण** – प्रधान, २७.

**पहिल** – प्रथम, पहला, १७.

**पंखि** – पाक्षिन्, ८७.

**पंचगुरु** – अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु,ये पंचगुरु या पंचपरमेष्ठी कहलाते हैं, १.

**पंचाणुव्वय** – पंच+अणुव्रत, ११. (गृहस्थों के पालने योग्य अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रहप्रमाण).

**पंचुंबर** – पंच+उदुम्बर, १० (वट, पीपल, पाकर, ऊमर और कठूमर )

**पंडिय** – पाण्डित्य, १५९.

**पंडुर** – पाण्डुर, श्वेत, १७७.

**पाअ** – पाद, पांव, १४५.

**पाअ** – पाप, २०७.

**पाण** – प्राण, ५०.

**पाणिअ** – पानीय, पानी, ८९.

**पाणिय** – पानीय, पानी, १८.

**पाय** – पाद, पांव, ११७.

**पायड** – प्रकट, ६.

**पायपसारण** – पाद+प्रसारण, पांव पसारना, १४९.

**पारद्धि** – पापर्द्धि, शिकार, ४७.

**पारद्धिअ** – पापर्द्धिक, पारधी, ४६.

**पारोह** – प्ररोह, २००.

**पालिअ** – पालित, ६६.

**पाव** – पाप, १०१.

**पावइ** – प्राप्नोति, पाता है, १८१.

**पावमइ** – पापमति, १०६.

**पावहरि** – पापहारिणी, १९९.

**पाविय** – पापिन्, पापी, १६५.

**पावियइ** – प्राप्यते, पाया जाता है, ९२.

**पास** – पाश, खेलने के पांसे, ६८.

**पास** – पाश, बन्धन, २१३.

**पासट्ठिय** – पार्श्वस्थित, १७६.

**पिच्छइ** – प्रेक्षते, देखती है, १६७.

**पिंड** – पिण्ड, ८.

**पिय** – पीत, पिया, २७.

**पियइ** – पिबति, पीता है, २६.

**पिसुण** – पिशुन, १५१.

**पिसुणत्तण** – पिशुनत्व, १४४.

**पिसुणमइ** – पिशुनमति, १५०.

**पिछइ** – परिछिनत्ति, पहिचानता है, ६.

पीय – पीत, पिया, ३२.
पुग्गल – पुद्गल, शरीर, २०५.
पुच्छिज्जइ – पृच्छयते, पूछा जाय, १२८.
पुच्छिय – पृष्ट, १६.
पुज्ज – पूजा, १५९.
पुट्ठि – पृष्ठ, पीठ, ९३.
पुट्ठिमंस – पृष्ठमांस, ४१.
पुणु – पुनः ५.
पुण्ण – पुण्य, २३.
पुण्णरासि – पुण्यराशि, २०७.
पुत्त – पुत्र, १२०.
पुरिस – पुरुष, १४२.
पुव्व – पूर्व, पहले, १५४.
पुव्वाइरिय – पूर्वाचार्य, १२.
पुंडरिय – पुण्डरीक, छत्र, १७७.
पूजाइय – पूजादिक, २१०.
पूरहिं – पूरयन्ति, पूरा करते हैं, ९७.
पेक्खह – पश्य, देखो, ५२.
पेक्खि – पश्य, देखो. १३४.
पेरिअ – प्रेरित, २१९.
पेसिअ – प्रेषित, २०३.
पेसिय – प्रवेशित ६२.
पोट्ट – उदर, पेट, म. पोट, १०६.
पोट्टलि – पोटलिक, पोटली, १०९.
पोत्थय – पुस्तक, पोथी, १५९.
पोरिस – पौरुष, १४२.
पोसिय – पोषित, ६५.

## फ

फरसिंदिअ – स्पर्शेन्द्रिय, १२३.
फलइ – फलति, फलता है, ७०.
फलिहसंकास – स्फटिक+सदृश, २१३.
फाटइ – स्फुटति, फटता है, १४९
फुट्टिवि – स्फुटित्वा, फूटकर, १००
फुल्लिय – पुष्पित, फूलाहुआ, ३५.
फूलत्थाण – पुष्पस्थान, ३४.
फोडिअ – स्फोटित, फोड़ा, २२०.

## ब

बद्धइण – बद्धेन, बांधने से ६०.
बबूल – वर्बुर, बबूल(वृक्ष विशेष९४)
बलद्दडा – बलीवर्द बैल, ११०.
बलिय – बलीयस् बली, १४७.
बाहिणि – भगिनी, बहिन, ४२.
बहुत्त – बहु, बहुत, २३.
बहुभेय – बहुभेद, ८२.

बहुय – बहु+क, बहुत, ४८.
बहुवेस – बहुवेष, १६२.
बंधअ – बांधव, ४४.
बंधण – बन्धन, ६४.
बंधि – बधान, बांध, २०८.
बंभण – ब्राह्मण, ७६.
बंभयारि – ब्रह्मचारिन्, १५.
बारह – द्वादश, बारह, ५९.
बाहिरउ – बहिर्, बाहिर, ५७.
बिण्णिसयइ – द्विशत, दो सौ, २१६.
बिद्दिअ – द्वितीय, १७.
बिहिं – द्वाभ्याम्, दो से, ७४.
बीअ – बीज, ७०.
बीय – बीज, ४७.
बीयअ – द्वितीय, गुज. बीओ, ११.
बुज्झिवि – बुध्वा, बूझकर, ७८.
बोरि – बदरीफल. बोर या बेर, ११०
बोल्लि – ब्रूहि, कह, ८८.
बोल्लिज्जइ – उच्यते, बोला जाता है, या ब्रुड्यते, डुबाया जाता है, ८६.
बोहि – बोधि, ज्ञान, २१०.

भ

भक्ख – भक्षण, १२४.
भक्खण – भक्षण, १४.
भक्खिअ – भक्षित, ४०.
भग्गा – भग्न, भगा हुआ, ४६.
भज्जइ – भज्यते, भग्न होता है, १४५.
भज्जंति – भज्यन्ते, भग्न होते हैं, ७५
भणिअ – भणित, कहा गया, १३.
भणु – भण, कहो, ५५.
भणेइ – भणेत्, कहे, १२६.
भत्ति – भक्ति, १५८.
भत्तिभर – भक्ति+भर, ११६.
भरइ – भरति, भरता है, १०३.
भरिअ – भृत, भरा, ८९.
भल्ल – भद्र, भला, ६५.
भल्लिम – भद्रिमन्, भलाई, १४१.
भवाई – (?) छाया इति टिप्पणम्, ७७.
भविय – भव्य, ३३.
भव्वुच्छाहणि – भव्योत्साहिनी, ११९.
भसल – भ्रमर, १७०.
भंति – भ्रान्ति, ६८.
भंतिक – भ्रान्तिक, भ्रान्तिवाला, १३१.
भाइय – भावित, २१३.
भारिअ – भारित, भारी, १०९.

**भासिय** – भाषित, २८.
**भिट्टडी** – साक्षात्कार, भेंट, ९४.
**भिस** – बिस, ढिस ( कमलनाल ) ३४.
**भुक्खिय** – बुभुक्षित, भूखा, १०३.
**भुवणत्तय** – भुवन+त्रय, १०८.
**भुंजइ** – भुंक्ते, भोजन करता है, १६.
**भुंजाइवि** –भोजयित्वा, भोगवा कर, ५९.
**भुंजिज्जइ** - भुञ्जीत, भोजन करे, ३५
**भुंजिवि** – भुक्त्वा, भोगकर, ७३.
**भूरि** - ( तत्सम ) बहुत, २२.
**भेरि** – भेरी, १७५.
**भोअ** – भोग, १८६.
**भोग्गासण** – भोज्य+अशन, भोजन ३७.
**भोय** – भोग, ८२.
**भोयण** – भोजन, ३०.
**भोयणिबंध** – भोग + निबन्ध, २०९.
**भोयधर** – भोगधरा, भोगभूमि, १९०.
**भोयावणि** – भोग + अवनि, भोग-भूमि, ९६.

## म

**म** – मा, मत, १७५.
**मइ** – मति, १०.
**मइलिज्जइ** – मलिनीक्रियते, मैला होता है, २९.
**मइलेइ** – मलिनायते, मैला होता है, ३६.
**मउडंकिय** – मुकुटांकित, १७४.
**मउण** – मौन, १४३.
**मउयत्तण** – मृदुत्व, १३२.
**मउलिय** – मुकुलित, १७०.
**मग्ग** – मार्ग, ८.
**मग्गइ** – मार्गयति, मांगता है, ४९.
**मग्गि** – मार्गय, मांग, ११०.
**मच्छ** – मत्स्य, मच्छ, १२४.
**मज्ज** – मद्य, २२.
**मज्जामिसरय** – मद्य + आमिष + रत, २९.
**मज्झिम** – मध्यम, ७९.
**मढिल्ल** – माढि, मट्ठापन, १३०.
**मण** – मनस्, मन, १४.

मणगच्छ – मनाग् + अच्छ, कुछ अच्छा; या, मण + गच्छ, मत जा, १२७.
मण्णमि – मन्ये, मानता हूं, ११८.
मण्णि – मन, मान, ( धातु-म्ना ), ११.
मण्णिय – मानित, २४.
मणुय – मनुज, ११४.
मणुयगइ – मनुज + गति, १६३.
मणुयत्तण – मनुजत्व, ३.
मणोरह – मनोरथ, १९०.
मय – मद, २०.
मयण – मदन, मैन (bee's wax), ६७.
मरइ – म्रियते, मरता है, १४६.
मरगअ – मरकत, २.
मरंत – म्रियमाण, मरता हुआ, ७१
महइ – महति, पूजता है, १८०.
महंत – महत्, २३.
महारयण – महारत्न, २०८.
महु – मधु, २२.
महुर – मधुर, १४२.
मंजर – मार्जार, बिल्ली, ४७.
मंजिट्ठ – मंजिष्ठा, मंजीठा, ५६.
मंड – मण्डित, १७९.
मंडिय – मण्डित, मांडना, २०१.
मंत – मंत्र, २१५.
मंति – मंत्रिन्, मांत्रिक, २१७.
मंदकसाय – मन्द+कषाय, १६३.
मंस – मांस, २२.
माइ – माति, माता, ११०.
माइर्णिब – माईफल + निम्ब ( वृक्षविशेष ) १६०.
माण – मान, ६३.
माणाइय – मान+आदिक, १६२.
माणुस – मनुष्य, ५४.
माणुसजम्म – मनुष्यजन्म, ९.
मारइ – मारयति, मारता है, ६३.
माहउसरण – माधवशरण ( वसंतानुगामी व विष्णुभक्त ), १७३.
मि – अपि, भी, ५९.
मिच्छत्त – मिथ्यात्व, १३६.
मिच्छादिट्ठि – मिथ्यादृष्टि, ८२.
मिच्छाभाअ – मिथ्याभाव, १४४.
मित्त – मित्र, ४४.
मिलिअ – मिलित, मिला, १९४.
मिल्लहि – मुच, छोड़, १४४.
मिल्लि – मुच, मेल या छोड़ १३४.
मिस – मिष, १७५.

मीसिअ – मिश्रित, ३६.
मुअ – मृत, मुआ या मरा, १२४.
मुइवि – मुक्त्वा, छोड़कर, ३७.
मुक्क – मुक्त, १५.
मुक्ख – मूर्ख, १०६.
मुच्चइ – मुच्यते, मुक्त होता है, ४४
मुणि – मन, स्तुतिकर ( धातु – म्ना, या मुण् ) १०८.
मुणिय – मुणित, ज्ञात कथित वा, ( धातु–मुण् प्रतिज्ञाने ) ५.
मुणिंद – मुनीन्द्र, ७९.
मुणेइ – मन्येत, माने, १३६.
मुत्तिअ – मौक्तिक, मोती, ९१.
मुलहिअ – मूलिल, मूलयुक्त, ३५.
मुह – मुख, मुंह, ११८.
मुहु – मुहुः, वार वार ४२.
महुत्त – मुहूर्त, २८.
मूढा – मूढ़ता, २०.
मेल्लि – मुक्त्वा, छोड़कर, १३०.
मेल्लिवि – मुक्त्वा, मेलकर या छोड़कर, १३७.
मोकलिय – मुक्त, ६६.
मोक्ख – मोक्ष, ७४.
मोडइ – मुंठ्येत्, मोड़े, १२०,
मोत्तिय – मौक्तिक, मोती, ११०.
मोहिय – मोहित, १३६.

र

रइ – रति, १२६.
रक्खहु – रक्ष, रखाओ, १२५.
रक्खिज्जइ – रक्ष्यते, रखाया जाय, ९८.
रज्ज – राज्य, २००.
रडइ रटति, रटती है, १७५.
रय – रजः, रज, १८३.
रयइ – रचयति, रचता है, १५१.
रवण्ण – रमणीय, ९१.
रसंति – रसन्ती, बजती हुई, १९९.
रहंति – रक्ष्यन्ते, रहते हैं, १३८.
राहिअ – रहित, ५.
रंध – रन्ध्र, छिद्र, ३.
राइय – राजित, १७१.
रामण – रावण, पु., ६३.
रिसि – ऋषि, ५३.
रुक्खडा – वृक्ष, रूख, १९०.
रुज्झइ – रुध्यते, रोका जाता है, १४०.
रुहिरामिस – रुधिर+आमिष, १३.
रूव – रूप, १२६.

रुवासत्त - रूपासक्त, १२६.
रेइ - राजते, विराजता, है, १७४.
रेहइ - राजते, विराजता है, ११६.
रोस - रोष, २१८.
रोहिणि - रोहिणी (उपवास विशेष) १८८.

## ल

लकडिय - लकुटी, लकड़ी, १४८.
लक्ख - लाक्षा, लाख, ६७.
लग्ग - लग्न, लगा, ३८.
लग्गइ - लगति, लगता है, ४४.
लच्छि - लक्ष्मी, १८७.
लच्छिम - लक्ष्मी, १४३, १९१.
लद्धि - लब्धि, लाभ, ४७.
लब्भइ - लभ्यते, लाभ होता है, ७१.
लब्भंति - लभन्ते, पाते हैं, २०३.
लहंति - लभन्ते, पाते हैं, ९६.
लहिवि - लब्ध्वा, लेकर, ८०.
लहु - लघु, २०७.
लंपड - लम्पट, १२५.
लाल - लाला, लार, १४६.
लालि - लालय, लाड़ कर, १२३.
लालिअ - लालित, १२३.
लाह - लाभ, १६३.
लित्त - लिप्त, ३१.
लिहाविय - लेखित, लिखाया, २०२.
लिहिय - लिखित, २०१.
लिहिवि - लिखित्वा, लिखकर, ४२.
लुग्ग - भग्न, जीर्ण, मार. लूगा, १४९.
लेइ - लाति, लेता है, ९०.
लेहु - लाहि, लेओ (करो) ११९.
लोइ - लोके, लोक में, ११५.
लोणि - नवनीत, मक्खन, २८, म. लोनी.
लोय - लोक, २०२.
लोयण - लोचन, ११८.
लोयणि - लवनी, लुवनी या (उस्तरा ?) १७.
लोह - (तत्सम), लोहा, ६७.
लोह - लोभ, १३४.
लोहकज्जि - लोह+कार्ये, लोहे के लिये, २२१.
लहसुण - लशुन, लहसुन, ३४.

## व

वइसाणर - वैश्वानर, अग्नि, २३.

**वारिय** – वारित, ४१.
**वारियहि** – वारयासि, निबारेगा, १५५.
**वाविय** – वापित, बोवाया, ७०.
**वासर** – ( तत्सम ), दिन, २.
**वाहि** – व्याधि, ४१.
**वाहुडइ** – व्यापृणोति, वापरता है, १६३.
**वि** – अपि, भी, १०.
**विउल** – विपुल, १३७.
**विक्कइ** – विक्रीणाति, बेचता है, २०९.
**विग्गासिय** – विकासित, २१२.
**विग्घ** – विघ्न, १००.
**विच्चित्त** – विचित्र, १७२.
**विच्छाअ** – विछाय, निष्प्रभ, १२५
**विज्जावच्च** – वैयावृत्य, (मुनिसेवा), १३९.
**विढप्पइ** – विवर्धते, बढता है, १०७.
**विणअ** – विनय, ७८.
**विणट्ठ** – विनष्ट, ६३.
**विणयविवज्जिय** – विनय+विवर्जित १३८.
**विणास** – विनाश, १३.
**विणासिअ** – विनिशित, २०४.
**विणिवारिय** – विनिवारित, ४३.
**विणु** – विना, ६.
**वित्थर** – विस्तार, ९०.
**वित्थरइ** – विस्तृणोति, विस्तरता है, २००.
**विदिस** बिदिशा, ६६.
**विपडंति** – वि + पतन्ति, पड़ते हैं, ८,
**विपलय** – वि + प्रलय, १८८.
**विभोअ** – विभोग, ७२,
**विमुक्क** – विमुक्त, २५.
**वियाणिय** – वि + ज्ञानिन्, विपरीत ज्ञान वाले, १०५.
**वियाणु** – विजानीहि, जानो, १९.
**वियार** – विचारय, विचार कर, १५२
**वियारिय** – विदारित, २२१.
**विरहिय** – विरहित, १३९.
**विलग्गउ** – वि + लगतु, लगे, १०७.
**विलुलंत** – विलुलत्, लहलहाता हुआ, १७१.
**विवज्जिय** – विवर्जित, २१.
**विस** – विष, २.
**विसकणिय** – विष+कणिका, २०७

**विसकंदलि** – विष+कन्दली,५०.

**विसमारिय** – विष+मूर्च्छित,२१७ (देखो मारइ).

**विसमेस** – विष + मेष, १६२.

**विसय** – विषय, २२०,

**विसहइ** – विषहते,सहता है,१२४.

**विसहर** – विषधर, सर्प, ५४.

**विसाल** – विशाल, १९८.

**विसुद्ध** – विशुद्ध, ९२.

**विह** – विध, ९.

**विहडावइ** वि+घटयति, विगाड़ता है. १५१.

**विहडिवि** – विघट्य, विघटकर, १००.

**विहाण** – विधान, ७०.

**विहि** – विधि, २०९.

**विहिय** – विहित, १५९.

**विहिविरहिय** – विधि+विरहित, ७०.

**विहूइ** – विभूति, १७९.

**विहूण** – विहीन, ११५.

**विसुत्तर** – विंशद्+उत्तर, बीस ऊपर, २२२.

**वुच्चइ** – उच्यते, कहा जाता है, १४१.

**वुड्डइ** – ब्रुडति, डूबती है, १६१.

**वुत्त** – उक्त, ४.

**वेदल** – द्विदल, दाल, ३६.

**वेयण** – वेदना, ४३.

**वेल्लि** – वल्ली, वेली, ४५.

**वेसा** – वेश्या, ४३.

**वेसाघर** – वेश्या+गृह, ४४.

## स

**सइं** – स्वयम्, १७.

**सउच्च** – शौच, ७.

**सकिलेस** – स + क्लेश, १६५.

**सक्क** – शक्र, इन्द्र, १६८.

**सक्कइ** – शक्नोति, सकता है, २०१

**सग्ग** – स्वर्ग, ७३,

**सग्गागमण** – स्वर्ग + आगमन, १६७.

**सचिक्खल** – स+कर्दम, कीचड़-युक्त, १४८, म. चिखल.

**सच्चामर** – सत् + चामर, या, सत्य + अमर, १७६.

**सज्झाअ** – स्वाध्याय, १४०.

**सण** – (तत्सम), सन (hemp), ६७.

**सण्णास** - सन्यास, ७१.

**सण्णाह** – सन्नाह, कवच, ६०.

**सत्तक्खर** – सप्ताक्षर, २१५.

**सत्तट्ठम** – सप्त+अष्टम, ७४.

**सत्तम** – सप्तम, १५,

**सत्ति** – शक्ति, ९.

**सत्तु** – शत्रु, १४२.

**सत्थ** – शास्त्र, १५९.

**सत्थसअ** – शास्त्र+शत, १०५.

**सद्प्प** – सदर्प, ६५.

**सद्द** – शब्द, १७५.

**सद्धाण** – श्रद्धान, १९.

**सप्प** – सर्प, ६५.

**समउ** – समम्, साथ में, ३०.

**समत्त** – समाप्त, ४५.

**समसरण** – समवशरण, १७०.

**समाइय** – सामायिक, ६८.

**समायरहि** – समाचर, आचरण कर, १०१.

**समाहि** – समाधि, १९३.

**समिला** – शम्या,, सैला, (Yoke pin) ३ (शम्या युगकीलक. अमर.)

**समीढवहु** – (?) समीरय, सम्हारो ५८.

**समीहिय** – समीहित, २०१.

**समुद्द** – समुद्र, स्व+मुद्रा, १४३.

**सम्मत्त** – सम्यक्त्व, १०.

**सम्माइट्ठि** – सम्यग्दृष्टि, ७९.

**सम्मुच्छाइ** – सम्मूर्च्छयते, सन्मूर्छन जीवों से युक्त होता है, २८.

**सयल** – सकल, ५१.

**सर** – सरः, सरोवर, १९१.

**सरय** – शरद्, १९४.

**सरवर** – सरोवर, १८.

**सरस** – (तत्सम), रसयुक्त, १२४.

**सरसइ** – सरस्वती, १४३.

**सरसलिल** – सर+सलिल, ६९.

**सरिस** – सदृश, २८.

**सरिसअ** – सदृश, १२०.

**सरूव** – स्वरूप, ९१.

**सरेह** – स+रेफ, २१२.

**सलक्खण** – सलक्षण, ११७.

**सव्व** – सर्व, २५.

**ससर** – स+स्वर, २१२.

**ससहर** – शशधर, चन्द्र, १७६.

**ससि** – शशिन्, चन्द्र, २९.

**सहइ** – सहते, सहता है, १०३.

**सहल** – सफल, ९.

**सहसणयण** – सहस्रनयन, इन्द्र, ७२.

सहाअ – सहाय, १२०.
सहु - सह, साथ, २०८.
संकाइय - शंका + आदिक, १९.
संखेव - संक्षेप, १.
संघ - मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, यह जैनियों का चतुर्विध संघ कहलाता है,१५८
संघ - संग, २२३.
संघडइ - संघटयति, संगठन करता है, १५१.
संजम – संयम, ७.
संझा - सन्ध्या, १२.
संताव - संताप, १५४.
संतोस – सन्तोष, १३७.
संदोहय – संदोहक, २२२.
संपइ – सम्प्रति, आजकल, ७७.
संपय - सम्पद्, ८९.
संपुण्णहल - सम्पूर्णफल, १७८
संबोहिय - संम्बोधित, १११.
संभाविय - संभावित, १६७.
संवरहि - संवारय, सम्हार,१२४.
संसग्ग - संसर्ग, ५२.
साइयजल – स्वातिजल, ९१.
साखंड - साखारंड, ड्योढ़ी, ६१.
सामग्गि – सामग्री, २१.
साय – स्वाद, ३५.
सायर – सागर, ३.
सावअ – श्रावक, १०.
सावज्ज – सावद्य, सदोष, २०४.
सावयगुण – श्रावक+गुण, २१.
सावयधम्म – श्रावक+धर्म, १.
सास – शस्य, ८३.
सासण – शासन, १७८.
सासयपअ – शाश्वत+पद, २१०.
सिक्खावय – शिक्षाव्रत, ११.
( सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, ये चार शिक्षाव्रत हैं। )
सिज्झइ – सिध्यति,सधता है,२१.
सिट्ठ – शिष्ट, ३०.
सिट्ठ – शिष्ट, कहा गया, ७९.
सिप्पि – शुक्ति, सीप, ९१.
सियसंजोअ – श्री + संयोग, १९१.
सिर – शिरस्, सिर, ७६.
सिलिमुह – शिलीमुख, भ्रमर, १२५.
सिवगइ – शिवगति, २२२.

**सिवपट्टण** – शिवपत्तन ( मोक्ष ), ८.

**सिविण** – स्वप्न, १६०.

**सिविणयपंति** – स्वप्न + पंक्ति, १६७.

**सिंचइ** – सिञ्चति, सींचता है, ९५.

**सिंचंत** – सिच्यमान, सींचा गया, ९८.

**सिंचिय** – सिक्त, १८०.

**सीय** – सीता, स्त्री, ६३.

**सील** – शील, ७.

**सीह** – सिंह, २१५.

**सुअज्जिय** – सु + आर्यिका, २०३.

**सुक्क** – शुष्क, सूखा, १८.

**सुक्कसर** – शुष्क + सरः, १३९.

**सुक्ख** – सुख, २०६.

**सुक्खडा** – सुख, १५२.

**सुच्चइ** – शुच्यते, शुद्ध होता है, २६.

**सुज्झइ** – शुध्यते, १३१.

**सुणह** – श्वन्, कुत्ता, ४७, ८२.

**सुणहु** – शृणु, सुनो, ४२.

**सुणंति** – शृण्वन्ति, सुनते हैं, ११८.

**सुणि** – शृणु, सुनो, २१.

**सुत्त** – सूत्र, ४२.

**सुदेअ** – सुदेव, १५५.

**सुद्द** – शूद्र, ७६.

**सुपत्त** – सुपात्र, ८५.

**सुपरोहण** – सु + प्रवहण, नौका ८५.

**सुमणस** – सुमनस्, पुष्प या शुद्धमन, १७३.

**सुयण** – सुजन, २.

**सुयपंचमि** – श्रुतपंचमी (उपवास) १८५.

**सुयंध** – सुगंध, १५०.

**सुरयण** – सुरत्न, २२०

**सुरराअ** – सुरराज, १६४.

**सुरलोअ** – सुरलोक, ७२.

**सुरहि** – सुरभि, सुगंधित, १८४.

**सुरिंद** – सुरेन्द्र, १६९.

**सुवण** – सुमनस्, सुमन, पुष्प, १४१.

**सुवण्ण** – सुवर्ण, १३६.

**सुवुत्त** – सु + उक्त, ७८.

**सुह** – सुख, ४.

**सुहावण** – सुखापन, सुहावना, १७२.

**सुहिय** – सुखिन्, सुखी, २.
**सूणी** – शुनी, कुत्ती, १४७.
**सूर** – सूर्य, ३७.
**सूरण** – कन्दविशेष, सूरन, ३४.
**सूरि** – (तत्सम), ७.
**सूरुग्गमण** – सूर्योद्गम, १४०.
**सेहर** – शेखर, २२३.
**सो** – सः, वह, २८.
**सोअ** – शोक, १७१.
**सोइ** – सोऽपि, ७
**सोक्ख** – सौख्य, ७४,
**सोसइ** – शोषयति, सोखता है, ६९
**सोहग्ग** – सौभाग्य, १८९.

ह

**हउं** – अहम्, हूं (मैं), ११८.
**हक्कार** – आह्वान, हल्कार या हांक, ८८.
**हक्कारइ** – हो, इति शद्वेन आह्वयति, हांका लगाता है, १७५.
**हणइ** – हन्ति, हनता है, ४६.
**हणेइ** – हन्यात्, हनेगी, ४८.
**हत्थ** – हस्त, हाथ, ११७.
**हत्थिय** – हस्तिन्, हाथी, १२३.
**हयतम** – हत+तमस्, १७२
**हरिणउल** – हरिण+कुल, २१५.
**हरिय** – हरित, हरा, १४.
**हरिसिय** – हृष्ट, १७६.
**हरेइ** – हरेत्, हरेगा, ६२.
**हलुव** – लघुक, १३४, १३५. (हेम. २, १२२.)
**हवइ** – भवति, होता है, ८७.
**हवसि** – भवति, होता है, १५५.
**हवंति** – भवन्ति, होते हैं, १७७.
**हंसउल** – हंसकुल, १३९.
**हारिअ** – हारित, हराया, ८४.
**हिय** – हृत, १७.
**हियइंछिअ** – हृदय+इष्ट, १०१.
**हियकण्णडा** – हृत+कर्ण, १२७.
**हियकमलिणि** – हृदय + कमले, २१३.
**हियडा** – हृदय, ५८.
**हियमहुर** – हृदय+मधुर, १७८.
**हिययंचल** – हृदय+अञ्चल, २०८
**हियवअ** – हृदय, ५३.
**हुज्जउ** – भवतु, होवे, २२४.
**हुयास** – हुताश, अग्नि, ३८.
**हुयासण** – हुताशन, ९८.
**हुव** – भूता, हुई, १७९.
**हुवअ** – भूत, हुआ, १५३.
**हुंति** – भवन्ति, होते हैं, १८.
**होइ** – भवति, होता है, ६.
**होउ** – भवतु, होवे, २.
**होसि** – भवसि, होता है, १५६.
**होहि** – भव, हो, १२९.

---

# टिप्पनी

७. बृहन्निघण्टुरत्नाकर में उत्तम सुवर्ण की परीक्षा इस प्रकार बतलाई गई है–

दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुंकुमप्रभम्।
तारं शुल्वोज्झितं स्निग्धं कोमलं गुरु हेम सत्॥
तच्छ्वेतं कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम्।
दाहे छेदे सितं श्वेतं कषे त्याज्यं लघु स्फुटम्॥

पृ. ३९३.

८. **चोरहं पिडि विपडंति**– हिन्दी का मुहावरा भी यही है–चोरों के पिंड में पड़ना या पाले पड़ना। भ. प्रति की टीका में '**पिडि**' का अर्थ '**पथि**' अर्थात् 'मार्ग में' किया गया है।

९. श्रावक अर्थात् जैन गृहस्थ के संयम की वृद्धि के अनुसार ग्यारह दर्जे है जिन्हे श्रावकों की ग्यारह प्रतिमा कहते है। दोहा नं. १० से १७ तक इन्ही प्रतिमाओं के लक्षण बतलाये गये हैं।

१०. '**पंच उदुम्बर**' कोष में देखिये। व्यसन सात माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं–

द्यूतं मांसं सुरा वेश्याखेटं चौर्यं पराङ्गना।
महापापानि सप्तानि व्यसनानि त्यजेद् बुधः॥

इनके त्याग का उपदेश दोहा नं. १८ से ५१ तक पाया जायगा।

**सम्मत्त**- सम्यक्त्व- का शद्वार्थ शुद्धता या यथार्थता है। जैन धर्म में इस शद्व का प्रयोग सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्ची दृष्टि के अर्थ में किया जाता है। सम्यग्दर्शन की परिभाषा यह है-

**श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।**
**त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥**

( रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४ )

'परमार्थ अर्थात् जैन सिद्धान्त के सात तत्वों तथा देव, शास्त्र और मुनियों में तीन मूढता और अष्ट मद से रहित, श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं।' यही लक्षण दोहा नं १९-२० में कह गये हैं। दोहा नं. ५३ भी देखिये। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के लिये देखिये 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' ११-१८.

११. **पंचाणुव्वय**- पंच अणुव्रत- कोष देखिये। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतों का उपदेश दोहा नं. ५९ से ७२ तक पाया जायगा।

१२. **सामायिक**- के अनाहतादि बत्तीस दोषों के लिये देखिये 'मुलाचार' गाथा ६०३-६०७.

१७. '**कत्तरिलोयणिहियचिहुर**' -'कर्तर्या लवन्या वा हृताः चिकुराः येन सः'। भ. प्रति की टीका में '**लोयणि**' का अनुवाद '**लौंचनि**' से किया गया है जिसका अर्थ या तो लोंचेन का शस्त्र उस्तरादि हो सकता है या हस्तलौंच।

१९. जैनियों के सात तत्वों के निरुपण के लिये देखिये बैरिस्टर चम्पतरायकृत 'Practical Path.'

२०. सम्यक्त्व के शंकादिक आठ दोष ये हैं-संको, कांक्षी, जुगुप्सी (घृणा)

मूढ़दृष्टि (मिथ्यामत में श्रद्धान), तथा उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना का अभाव.

कुल जाति, राज्य, रूप, बल, तप, सम्पत्ति और विद्या इनके अभिमान को मद कहते हैं।

कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र की श्रद्धा का नाम मूढ़ता है। इन तीनों तथा इन तीनों के उपासकों को जो मानता है वह अनायतन कहलाता है।

२३. उपर्युक्त दोहे में कहे हुये मद्य, मांस और मधु में से प्रथम दो का वर्णन न कर इस दोहे में एकदम तीसरे का प्रसंग छेड़ा गया है। इसी कमी को पूरा करने के लिये भ प्रति में दो दोहे जोड़े गये हैं (देखो परिशिष्ट) कवि ने संभवतः उन्हे यहां इसलिये छोड़ दिया है कि उनका वर्णन आगे सप्त व्यसनों में आने वाला है (देखो दोहा ४१–४२)।

२४. इस दोहे का प्रथम चरण भ. प्रति में इस प्रकार है '**अणुव्वय अट्ठइं मण्णियइं**'। इसका अर्थ होता है 'आठों' अणुव्रतों के मानने से (मधु का परिहार होता है)। किन्तु यह पाठ उपयुक्त नहीं जान पड़ता क्योंकि एक तो अणुव्रत आठ नहीं हैं पांच है जो द्यूत, मांस और मधु के त्याग सहित अणुव्रत नहीं मूलगुण कहलाते हैं। और दुसरे इस अर्थ से दूसरी पंक्ति की कुछ सार्थकता नहीं बैठती।

२५ '**सव्वइं**' पाठ केवल प. प्रति में है शेष सब प्रतियों में '**सग्गइं**' पाठ है। भ. में भी 'सग्गइं' है और उसके अर्थ में कहा गया है '**सर्हिज-णादिकुसुमानि अपि त्यागं करोति**'। यदि इसका अर्थ हम शाक (साग) करें तो अच्छा होगा। तदनुसार प्रथम चरणका अनुवाद होगा 'शाक और फूलों को छोड़ देने से' इत्यादि।

२७. प्रथम पंक्ति का अर्थ भ प्रति की टीका में इस प्रकार किया गया है– '**येन (यः) अगालितजलं,हे जीव, अघं ज्ञात्वा यदि न प्रवादं निन्द्यां**

**करोति स वृती न**'। किन्तु मूल के शब्दों पर से यह भाव निकालना कठिन है।

२८. कुछ पदार्थों में उनकी आन्तरिक गर्मी से जो कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं उन्हे जैन सिद्धान्त में सम्मूर्छन जीव कहते है।

३०. भ. प्रति में, **ताहं समउ जं कारणइं**' के स्थान पर '**ता सम भुंजइ जो वि णरो**' पाठ है, और यह दोहा नं. २९ से पहिले रखा गया है।

३१. '**तउमंडयहं**' पाठ किसी भी प्रति में नहीं है, किन्तु उपयुक्त अर्थ बैठाने की दृष्टि से 'भ' के स्थान पर 'म' पाठ रख दिया गया है। तो भी अर्थ बहुत संतोषजनक नहीं निकला।

भ. प्रति में '**तहं भंडयहं**' पाठ है और दोहे का अर्थ इस-प्रकार किया गया है–'**इच्छापि कृते तं धर्मं भांडयति लाजयाति। यदि चेत् पक्कमशनादिकमपि आस्वादयति तस्य भवन्ति (भवति) न दर्शनव्रतप्रतिमा**' इससे मूल के शब्दार्थ समझने में मुझे कोई सहायता नहीं मिली।

श्रीयुक्त ए. एन. उपाध्ये, अर्धमागधी-प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापूर ने दोहे का अर्थ सूचित किया है–'किसी को उनके पके भोजन से लिप्त 'भांडों (पात्रों) में भोजन करने के लिये नहीं बैठना चाहिये। ये भाण्ड श्रावकों के योग्य नहीं हैं उन पात्रों में का भोजन भी (अशुद्ध है)।' इस अर्थ में 'अच्छउ' से भोजन करने बैठना, तथा 'भंड' और 'पत्त' से भांड और पात्र का अर्थ लिया गया है। मेरे ध्यान से 'तहं भंडयहं' पाठ को लेकर दोहे का निम्न अर्थ अच्छा होगा "उनके पके भोजन से लिप्त भांड (में भोजन बनाना) तो रहने ही दो उनके पात्रोंमें भोजन करना भी श्रावकों के योग्य नहीं है" इस अर्थ के लिये 'भोयणु' (एक वचन) के स्थान पर भोयण (बहुवचन) पाठ रखना आवश्यक है क्योंकि उससे सम्बद्ध

क्रियापद 'हुंति' और विशेषण 'जुग्गई' बहुवचन में है। म. द. और भ. प्रतियों में 'भोयणं' ही पाठ है।

३४. '**मूलउ णाली**' पढना ठीक होगा। भ. प्रति की टीका में इसका अर्थ '**मूल हरिद्रादि कमलनालिका**' ऐसा किया गया है। इस पंक्ति का दोलतरामजीकृत क्रियाकोष की इस पंक्तिसे मिलान कीजिये–

**'तजि केदार तूंबड़ी सदा खाहु म नाली ढिस तुम कदा'।**

प प्रति में खिस की जगह ढिस पाठ है। कमलनाल की शाक को कई जगह ढिस या ढेस अबभी कहते हैं। भ. प्रति में भिस पर टिप्पण है 'कमलजड़' तथा 'त्थाणयहिं' की जगह '**छाणयहिं**' पाठ है और दूसरी पंक्ति की टीका है '**सूरण-कंद-फूल-अछाणकं एतेषां खादिते सति सम्यक्त्वं मलिनं भवेत्**'। 'अत्थाणय' से संभवतः अथाना (अचार Pickles) का तात्पर्य है।

३५. भ. प्रति में '**मुललिउ**' के स्थान पर '**सुलिउ**' पाठ हैं और उसपर टीका है '**अन्यं यत् सुलितं फूलसंयुक्तं**' इत्यादि। शूलित से संभवतः अंकुरित का तात्पर्य है। 'मुललिउ' से म्लान या मुकुलित (बौंड़ी) का तात्पर्य भी कदाचित् हो सकता है।

४१. '**पुट्ठिमंस**' से यहां कवि का क्या अभिप्राय है यह स्पष्ट समझ में नही आता। क्या पीठ का मांस बहुत स्वादिष्ट होता है इससे मांस भोजियों को उसका छोडना कठिन है? पृष्ठमांस का एक अर्थ संस्कृत में पैशुन्य अर्थात् चुगलखोरी भी होता है, यथा–

**प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं।**
**कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।**
**छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंकं।**
**सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति॥**

भ. प्रति में 'पुट्ठिमंसु' के स्थानपर 'पिट्ठिमंसु' पाठ है और टीकाकार ने उसका अर्थ 'धान्य की पीठी जिसमें मांस की कल्पना की गई हो' ऐसा किया है ( धान्यचूर्णपीठ्यामपि मांस इति विकल्पे जाते सति सा पेठी त्यज्यते )। देवसेन कृत भावसंग्रह में कहा गया है कि गुड़ और धातकी ( ? ) के योग से बने पिठर में मदिरा की शक्ति आजाती है। 'जह गुडधादइजोए पिठरे जाएइ मज्जिरासत्ती'' ( १७३ )। इन तीन अर्थों में से लागू तो कोई भी किया जा सकता है पर पूर्ण संतोषप्रद मुझे उनमें से एक भी नहीं ज्ञात होता। दूसरी पंक्ति में जो कवि ने अपथ्य और व्याधि की उपमा दी है उससे ज्ञात होता है कि उनकी समझ में 'पुट्ठिमंस' मांसभक्षण का मूल है।

४२. इस दोहे के प्रथम चरण का अर्थ कुछ अस्पष्ट है। 'सुत्तउ' पाठ मेरा कल्पित है। पोथियों में 'मुत्तहं' या 'मुत्तउ' है। भ. प्रति का पाठ इस प्रकार है-'मज्जहु विलित्तिहि विमुत्तई सुणहु हु मज्जहु दोसु' और इसका अर्थ यह दिया गया है-'मदिरालिप्तमुखं यस्य तस्य मुखे श्वानो ( श्वा ) मूत्रं करोति'। यदि यह अर्थ अभीष्ट हो तो हम प्रथम चरण को इस प्रकार पढ सकते हैं-'मुहु विलिहिवि मुत्तइ सुणहु' ( मुखं विलिह्य मूत्रयति श्वा )।

५८. इस दोहे का पाठ निश्चित करने तथा अर्थ बैठाने में बहुत कठिनाई का अनुभव हुआ है। फिर भी 'समीढचडु' पाठ सन्दिग्ध है। शब्दों के अर्थ कोष में देखिये। भ. प्रति की टीका में दोहे का अर्थ इस प्रकार किया गया है 'शुद्धदर्शनं कदा भवेत् यदा गता दूरीकृता अरयो मिथ्यात्वशत्रवः। एतादृशं सम्यक्त्वं हृदये सुनिश्चलं यस्य व्रतोपवासादिनां 'समाटः' प्राप्तो भवः (?) बहूनि, हे जीव, चपलानि जीवितव्यं धनानि आयुषमपि'। श्रीयुक्त ए. एन. उपाध्ये इस दोहे का अर्थ ऐसा करते हैं-'क्षुद्र या मिथ्या दर्शन, जो ( अबतक ) हृदयमे निश्चल था, को छोड़ो। व्रत के पाश सम्हालो। हे जीव, धन और आयु चंचल हैं।'

वे ' गड्डयर ' का ' क्षुद्र ' अर्थ मम्मटाचार्य कृत काव्यप्रकाश, ९, ८३, में प्रयुक्त ' गड्डु ' के आधार पर करते हैं। ( तदेत्काव्यान्तर्गड्डुभूतमिति नास्य भेद-लक्षणम् ) ।

६१. वसुराजा की कथा इस प्रकार है। वसु स्वस्तिकावती का राजा था। वह एक ब्राह्मण पुत्र नारद और गुरुपुत्र पर्वत के साथ क्षीरकदम्ब उपाध्याय के पास विद्या पढा था। गुरु की मृत्यु के पश्चात् एकवार नारद और पर्वत में ' अजैर्यष्टव्यम् ' इस श्रुति के अर्थ पर विवाद खड़ा होगया। पर्वत अज का अर्थ बकरा करता था और नारद कहता था कि गुरुजी ने अज का अर्थ उन्हे ' तीन वर्ष के पुराने धान जो ऊग न सकें ' यह बताया था। अन्त में उन्होंने इसके निर्णय के लिये वसु को मध्यस्थ चुना। पर्वत की माता ने वसु से अपने पुत्र के पक्ष करनेका वचन ले लिया। और तदनुसार वसु ने असत्य जानते हुए भी पर्वत के अर्थ की पुष्टि की। इस घोर असत्य के प्रभाव से वसु राजा अपने सिंहासन सहित पृथ्वी में धंस गया और फिर मर कर नरक को गया। ( देखो नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष ) ।

' **शाखारण्ड** ' वैदिक काल में उसे कहते थे जो अपनी शाखा को छोड़ कर दुसरी शाखा को स्वीकार करे। डाल का अर्थ भी शाखा है पर इस शब्द का उपयोग वृक्ष की शाखा के अर्थ में ही बहुधा देखा जाता है। संभव है ' **साखंड** ' या ' **भाखंड** ' किसी ऐसे पक्षी व कीड़े को कहते हों जिसके डाल पर बैठने से उस डाल को हानि पहुंचे।

६३. इंछिय–इष्ट्वा, इच्छा करके; देखो दोहा २०९.

६६. भ. प्रति में ' **पालिउ** ' के स्थान पर ' **पाकिउ** ' पाठ है और उस पंक्ति की टीका इस प्रकार है–' **येन मुकुलिते सति आसा तृष्णा वर्द्धते एव, तेन संयमं उत्पाटितम्** । टीकाकार ' मोकलियइं ' के अर्थ को न समझने के कारण भ्रम में पड़ गये हैं।

७७. ' **अवाई** ' का अर्थ ठीक समझ में नहीं आया। प. प्रति में इस शब्द पर ' **छांह** ' ऐसा टिप्पण है उसीके आधार पर मैने अनुवाद किया है।

भ. प्रति में दोहे की दूसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार है **णिकक्खइं एरं-डवणे किम अण्णाइ भवेइ** ' और इसकी टीका है ' **यथा निकर्षये सति एरंडवनानि धान्यानि न भवेत्** । ( भवेयुः ) ' प्रथम पंक्ति की टीका है ' **मद्यमांसमधुपरित्यागे सति संपद्यन्ते श्रावकव्रतानि** '। टीकाकार का अर्थ यह ज्ञात होता है ' मद्य, मांस और मधु के परित्याग से श्रावकव्रत होते हैं । एरंड के वन को विना कृषि द्वारा साफ किये अन्न नहीं उत्पन्न हो सकता ' ।

श्रीयुक्त उपाध्ये का अनुमान है कि ' **भवाई** ' ' भू + आदि ' का अपभ्रंश रूप है और तदनुसार वे दोहे का अर्थ इसप्रकार बैठाते हैं- ' जो मद्य, मांस और मधु का परित्याग करता है वही ( शुद्ध ) श्रावक होता है । एरण्डवन में से जब वृक्ष निकाल दिये जाते है तभी ( शुद्ध ) भूमि आदि रहते हैं ' इन दोनो अर्थों में ' संपइ ' सम्पद्यते के समरूप लिया गया है और मेरे अनुवाद में ' संपइ ' ' सम्प्रति ' के बराबर लिया गया है ।

८२ इस दोहे की देवसेनकृत भावसंग्रह की निम्नलिखित गाथा से तुलना कीजिये—

**केई पुण गयतुरया गेहे रायाण उण्णई पत्ता ।**
**दीसंति मच्चलोए कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥ ५४४ ॥**

८४. ' **उप्पहिं** ' का अर्थ अनुवाद में ' आत्मना ' हिंदी-उपतकर किया गया है । भ. प्रति की टीका में उसका अर्थ ' **उत्क्षिप्यते** ' दिया है ।

८६. ' **दोसडइ बोल्लिज्जइ** ' का अर्थ अनुवाद में ' दोषेन कथ्यते ' ऐसा लिया गया है । ' **बोल्ल** ' धातु अपभ्रंश में बुलाने के अर्थ में अनेक जगह आई है ( देखो दोहा ८८, ११५ ) । किन्तु देवसेनकृत ' भावसंग्रह ' में बोल ( वोल ) धातु कई बार ' ब्रुड् ', हिंदी-बुडना या डूबना के अर्थ में प्रयुक्त हुई है ( देखो गाथा ५४७, ५४८, आदि ) । तदनुसार प्रस्तुत दोहे की प्रथम पंक्ति का अर्थ यह भी हो सकता है-' कुपात्र का दान ( दाता को ) दोष में

डुबाता है, इसमे भ्रान्ति नही। यह अर्थ अधिक अच्छा प्रतीत होता है और इससे पाषाण की नाव की उपमा बहुत उपयुक्त हो जाती है।

९९. 'घडंति' का अर्थ अनुवाद में 'घटायन्ते' अर्थात् 'घटयुक्त होते हैं,' ऐसा लिया गया है। भ. प्रति में ज. प्रति के समान 'वहंति' पाठ है और टीका है '**यथा जलं निकासिते (जले निष्कासिते) कूपके नूतननीरं (क्षीरं) आगच्छति**'। अर्थात् 'जैसे कूप से जल निकालने पर उसमे नवीन जल आजाता है'।

१००. **अविण**–अविन का अर्थ मैंने पालिका या पार किया है। अवि का अर्थ संस्कृत में दीवाल या पर्वत और 'अविन' का अर्थ पुरोहित (अवति रक्षति यज्ञमिति, अव् + इनच्, है) होता। इसी के अनुसार अवनि पृथ्वी का नाम है। भ. प्रति की टीका में भी यही अर्थ किया गया है–'**तडागनीरबंधनपालिकया विना स्फुटति नीरं न तिष्ठति**'।

१०६. योगीन्द्रदेवकृत 'परमात्मप्रकाश' में एक यह दोहा है–

**लाहहं कित्तिहि कारणिण जे सिवसंगु चयंति।**
**खीला लग्गिवि ते जि मुणि देउलु देउ डहंति॥**

अर्थात् कीर्तिलाभ के कारण जो शिव (मोक्ष) का संग छोडते हैं वे मुनि खीलों के लिये दवालय और देव को ढाते हैं। इसी के अनुसार यदि हम प्रस्तुत दोहे का यह अर्थ करें तो अच्छा होगा 'पेट के लिये जो पापमति दूसरो को दुख पहुंचाता है वह मूर्ख क्या खीलों के लिये देवालय नही पलोटता (तोडता)'? इसी प्रकार के भाव के लिये देखिये दोहा २१९–२२१.

१०९–११०. इन दोहों का भावार्थ यह प्रतीत होता है। कोई अधर्मी यदि प्रश्न करे कि जिस प्रकार पोटलीमात्र विक्रेय द्रव्य से बडा वाणिज्य नही हो सकता उसी प्रकार छोटे से उपवास से कोई बडा धर्म नही हो सकता, तो इसका उत्तर यह है कि वाणिज्य का बडप्पन द्रव्य के परिणाम पर नही किन्तु

उसके मूल्य पर निर्भर है। माणिक और मोतियों से भरी पोटली के धन का पाराबार नहीं और बैलभरे बेरों का कुछ भी मूल्य नहीं। इसी प्रकार उत्तम उपवासमात्र से ही बड़ा पुण्य हो सकता है। इसका उदाहरण आगे के दोहे में दिया गया है। टीकाकार का अर्थ कुछ सार्थक नहीं जंचता ' **पोटं ग्रंथि स्वमस्तकोपरि लब्धे सति मणिमुक्तानामपि, तथापि धनं किं तस्य भवेत् अपि तु न भवेत्। किमिव यथा बोरीणां भारं वहति बलीवर्दः तथापि बोरीणां मध्ये तन्नास्ति यत्खादति** '।

१११. नागकुमार जैनपुराणानुसार बाइसवें कामदेव हुए हैं। पूर्वजन्म में उन्होंने श्रीपंचमी उपवास का विधि सहित पालन किया था उसी के फल स्वरूप उन्हें वह कामदेव का अनुपम सौन्दर्य और बल प्राप्त हुवा था। विशेष जानने के लिये ' णायकुमारचरिउ ' देखिये।

११५. यदि ' **बोलियउ** ' दोहा नं. ८६ के नोट के अनुसार 'ब्रुडितः' का समरूप माना जाय तो अर्थ यह हो सकता है कि ' बिना डुबकी लगाये क्या कोई लोक में एक छदाम भी पा सकता है '। इसका तात्पर्य संभवतः उन पनडुब्बों से होगा जो तीर्थस्थानों पर जल में फेंके हुए सिक्कों को डुबकी लगाकर निकालते हैं। उन्हें कोई यात्री सीधा दाम नहीं देता।

१२१. अनुवाद में मण से मन और वलंत से चलत् का अभिप्राय लिया गया है किन्तु दूसरी पंक्ति का अर्थ कुछ संतोषजनक नहीं बैठा। भ. प्रति की टीका में मण से मा का और वलंत से ज्वलत् का अर्थ लिया गया है और तदनुसार दोहे का यह अर्थ होता है ' कुछ भी करके चार दान दे। अपनी शक्ति को मत छुपा। जलते हुए ( घर में से ) जो कुछ निकाल लेगा वही हाथ रहेगा इसमें भ्रान्ति नहीं '। यह अर्थ अधिक अच्छा है। उव्वरइ-उद्वर्तते, रहता है या बचता है। देखो हेमचन्द्र व्याकरण ८।४।३७९-

> महु कंतहो बे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु।
> देंतहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झंतहो करवालु॥

१२७. अनुवाद में मणगच्छ का अर्थ मनाग् + अच्छ, कुछ अच्छे, किया गया है और इस कारण 'मत कर' यह भाव ऊपर से मिलाना पड़ा है। किन्तु दोहा नं. १२१ के नोट के अनुसार मण का 'मा' अर्थ लेकर प्रथम पंक्ति का यह अर्थ कर सकते हैं 'हे जीव मनोमोहनस्य गेयस्य अभिलाषं मा गच्छ' हे जीव मनमोहक गीत की अभिलाषा में मत जा'। भ प्रति में 'मण' के स्थान पर 'मा' पाठ ही है।

१३०. अनुवाद में माढिल्ल–माढि–दैन्य ( Sadness, dejection ) का समरूप लिया गया है। यदि हम इसे दो शब्दों में- म ढिल्लउ-विभाजित करदें तो दोहे का यह अर्थ भी किया जा सकता है 'गुरु के वचनरूपी अंकुश से खींच। ऐसा ढीला मत छोड़ कि यह मनरूपी हाथी संजमरूपी हरे भरे वृक्ष को व्यर्थ ही तोड़ मोड़ डाले'। यह अर्थ अधिक अच्छा प्रतीत होता है। मुह का यहां अर्थ मुधा-व्यर्थ लिया गया है।

१३४ लोह शब्द द्व्यर्थक है लोभ और लोह, ( लोहा )। भावार्थ यह है कि जिस प्रकार लोहे से भरी नाव के डूबने का भय रहता है किन्तु लोहा निकाल डालने से वह सुलभता से पार लगती है उसी प्रकार लोभ का भार निकाल फेकने से मनुष्य की संसार-यात्रा सुलभ होती है। इस दोहे की देवसेनकृत भावसंग्रह की निम्न लिखित गाथा से तुलना कीजिये–

> लोहमए कुतरंडे लग्गो पुरिसो हु तीरणीवाहे।
> वुड्डइ जह तह वुड्डइ कुपत्तसम्माणओ पुरिसो ॥ ५४९ ॥

१३५. अन्य परिवार से तात्पर्य क्रोध, मान, माया आदि दोषों से है जो मोह के क्षीण होने से आप ही क्षीण हो जाते हैं। मोह मानों द्वार की अर्गला है जो इन सब दोषों को मनरूपी गृह में रोके हुए है।

भ. प्रति में ''मोहु ण' पाठ है और प्रथम पंक्ति की टीका है 'यत्र मोहो दुर्बलो नास्ति तत्र इतरपरिवाराणि कथं क्षीणानि भवन्ति'। दूसरी पंक्ति का अर्थ टीकाकार नहीं लगा सके। वे लिखते हैं

**' द्वयोः पदानां ( पद्योः ) भावार्थं न ज्ञातं अतो मया न लिखितम् '।**

१४२. '**चाइ**' शब्द '**त्यागेन**' के समरूप लिया गया है और '**ण**' '**नु**' के ( ण के इस अर्थ के लिये देखो कोष ) । यदि उसके स्थान पर '**चाड**, पाठ लिया जावे और वह ' कवित्तें ' के साथ जोड़ दिया जावे तो यह अर्थ हो सकता है कि ' चाटु ( चापलूसी ) कवित्तों द्वारा पौरुष ( का वर्णन करने ) से किसी पुरुष की कीर्ति नहीं हो सकती । ' तात्पर्य यह होगा कि शत्रु को भी मीठे और उसकी प्रशंसा भरे वचनों से प्रसन्न करो। केवल वचनमात्र से उसकी कुछ कीर्ति तो हुई नहीं जाती ? इसकी निम्नलिखित श्लोक से तुलना कीजिये—

**प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः ।**
**तस्मात्तदेव दातव्यं वचने का दरिद्रता ॥**

१४३. इस दोहे में '**सरसइ**' और '**समुद्दि**' द्व्यर्थक प्रतीत होते हैं । सरसइ-सरस्वती व सरस या स्वरस; समुद्द–समुद्र व स्वमुद्रा, या स+मुद्रा । अर्थात् मौन से भोजन करने वाले को भोजन के रसों का आनन्द मिलता है, सरस्वती भी सिद्ध होती है, तथा लक्ष्मी भी प्राप्त होती है क्योंकि वह समुद्र ( मुद्रित मुख ) में निवास करती है । संभव है कि ' लच्छिम करहु णिवासु ' में मकरहु णिवास [ मकर ( मगर ) का निवास ] के अर्थ का भी समावेश हो । किन्तु दोहे की रचना में इसे यथोचित रूप से योजित करना कठिन प्रतीत होता है । इस दोहे का संस्कृत रूपान्तर मैं इस प्रकार करता हूं—

भोजनं मौनेन यः करोति सरस्वती [ स्वरसेन वा ] सिध्यति तस्य । अथवा वसति समुद्रे ( उदधौ मुद्रासहिते मुखे वा ) जीव लक्ष्मीः, कुरु निवासम् ( तस्याः ) । भ. प्रति की टीका में यह कुछ अर्थ नहीं बतलाया गया । टीका है **' यः पुरुषः भोजने मौनं कुर्यात् तस्य सरसास्वाध्यायं ( ? ) भवन्ति । अथवा ये पुरुषा स्वाध्यायेषु समुदिता भवन्ति ते लक्ष्य-निवासा ( ? ) भवन्ति '।**

१४६. यहां 'लाल' शब्द में श्लेष है। लाल–लाला (लार) या पुत्र। कुसियारा–कोशकार या रेशम का कीड़ा जो अपनी लार से रेशम बनाता है और उसी के कारण मारा जाता है। भ. प्रति की टीका का अर्थ इससे भिन्न है। दूसरी पंक्ति की टीका है–**क इव। श्वेतकीटकं तस्यैव अंगजातस्यैव हृदयं खादन्ति (खादति) लेकेजुंजाला मृत्तिकायाः कीटकं प्रोच्यते**'। टीकाकार के मत से मिट्टी के कीड़े, केंचुए, अपनी संतान का भक्षण करते हैं। यदि यह टीक भी हो तो भी यह अथ यहां लागू नहीं होता।

१४८. ग्रामों के कच्चे रास्तों के आरपार बरसात में लोग लकड़ी के डूंडे (खोड़े) लगा देते है जिससे रास्ता और अधिक न विगड़ने पावे। न्याय के खोड़े लगाये विना दरिद्री पुरुषों की दशा और विगड़ती ही है।

भ. प्रति के टीकाकार ने यह अर्थ नहीं समझा। उनका अर्थ कुछ विचित्र ही है– '**कं इव, यथा काष्ठेन विना पादबंधनछिद्रकीलिकासहितपोडे ति लोके न भवेत्। तस्य पुरुषस्य पवित्रो ऽपि मार्गाप्रकटेन दुराग्रहो भवति (?)**।

१५०. चन्दन के पास सर्प रहते हैं इस डरसे यह सुगन्धी वृक्ष घर के पास व बगीचों में नहीं लगाया जाता। यदि हो तो काट डाला जाता है।

१५५ जिस प्रकार छत्र से पानी और घाम का निवारण होता है उसी प्रकार इस लोक में तिर्यञ्चादि नीच गति और परलोक में नरक धर्म से ही रोके जा सकते है। ऐसा ही अर्थ लेने से दृष्टान्त की सार्थकता हो सकती है।

१५६. '**डरहि**' का 'पतसि' पड़ता है, भी अर्थ हो सकता है। तदनुसार अर्थ यह होगा कि 'इसीसे बार बार मृत्यु (के मुख में) पड़ता है, चिरायु कैसे हो सकता है'। हिन्दी डरा-गिरा.

१५७. मुनि आदि धर्मवृद्ध पुरुषों की सेवाशुश्रूषा का नाम वैयावृत्य है। 'कंदि' की व्युत्पत्ति मैंने 'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' धातु से लगाई है,

अतएव कंदि [ एकदिन् ] - सूखा । अनुवाद के अर्थ के लिये ' अयाणु की जगह ' अयाण ' पाठ चाहिये । अयाणु पाठ से ठीक शब्दार्थ यह होगा ' अज्ञानी और सूखा मत हो ' । भ. प्रति की टीका कुछ और ही है और उसमें कंदि का अर्थ कथं लगाया गया है- ' **अमुना प्रकारेण व्याधि-पीडितयुक्तानां दातव्यगुणेसु अज्ञातो कथं भवसि** ' ।

१६०. भ. प्रति में तीसरे चरण का पाठ भ्रष्ट है ' **मेदनी मेइणि वंबुपवियइं** ' और टीका है ' **यथा वंबूलवृक्षविपने ( वपने ) सति आम्रफलं कथमास्वादयति** ' ।

१६२. प्रथम पंक्ति की रचना कुछ क्लिष्ट है । विस से विषवाले प्राणी का जो अर्थ किया है वह पूर्ण संतोषप्रद नहीं है । भ. प्रति की टीका में उस चरण का कुछ अर्थ ही नहीं आया । टीका है ' **ये प्राणिनः कूटतुलया मानोपमानं कुर्वन्ति तथा ह्रस्वदीर्घवाटकेन हीनाधिकं क्रय-विक्रयं करोति स व्रती श्रावको न । तस्य धर्मः कीदृशो यथा नाट्यशालायां नृत्यकारिणी बहुवेषं धारयति तत्परेषां रञ्जनं करोत्येव** ' ।

१६४. दूसरी पंक्ति का अर्थ कुछ सन्देहयुक्त है । भ. प्रति की टीका इस प्रकार है ' **सम्यक्तेन सह श्रावकस्य व्रतानि भवंति तेन व्रतेन स्वराधिपो भवति । यदि सम्यक्तं न भवेत् तर्हि श्रावकस्यापि व्रतानि न भवेत्** [ भवेयुः ] ' । इस अर्थ का मूल के शब्दों से कोई सम्बन्ध ही नहीं दिखाता । श्रीयुक्त उपाध्ये दोहे का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार करते हैं ' **समासे श्रावकव्रतानां उत्पद्यते सुरराजः । योगविनष्टः क्षिप्यते, जातः यत्र कुत्रापि किं वार्यते** ' । यहां छंडियइ ' क्षिप्यते ' के समरूप लिया गया है और ' सो ' का कोई सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम नहीं रक्खा गया । अनुवाद में गविणिट्ठउ का गवि+निष्ठा ( अलुक् समास ) इन्द्रियनिष्ठा, अर्थ लिया गया है ।

१७१. यहां **असोउ** [ अशोक ] और **सोउ** ( शोक ) का यमक उत्तम है ।

१७३. यह दोहा श्लेषपूर्ण है। पुष्पवृष्टि के वर्णन के साथ साथ कवि ने यहां विष्णु और जिन के भक्तों में अन्तर बतलाया है।

**माहउशरण**–माधवशरण (वसन्तऋतु-अवलम्बी, विष्णुभक्त).
**थिप्पंति**–पतन्ति, तृप्यन्ति (पडते हैं या तृप्त होते हैं)
**सुमणस**–सुमनस (अच्छे पुष्प, शुद्ध मनवाले).
**अलियविवज्जिय**–अलिविवर्जित (भ्रमररहित), अलीक-विवर्जित (असत्यरहित).

१७४. रेहइ–राजते, विराजता है। तुकबंदी की दृष्टि से रोहइ–रोचते ही ठीक होगा।

१८५. श्रुतपंचमी का उपवास आषाढ, कार्तिक और फाल्गुण मास के शुक्लपक्ष की पंचमी को माना जाता है (देखो णायकुमारचरिउ ९, २०, ४.)

१८८. रोहिणी उपवास प्रत्येक मास में रोहिणी नक्षत्र के दिन माना जाता है (देखो जैनव्रतकथासंग्रह पृ. ३६)। ण–नु (देखो कोष)।

१९३. दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप, ये चार आराधना कहलाती हैं। इस विषय का प्राकृत में अति प्राचीन ग्रंथ भगवती–आराधना है जिसका दिग-म्बर समाज में बड़ा मान हैं। यहां उसी की टीका करने का उपदेश जान पड़ता है।

१९७. चंदकंति से चन्द्रकान्त मणि का तात्पर्य लिया गया है जो चंद्र की किरणों के संयोग से द्रवित होता है। यदि हम दूसरी पंक्ति को ऐसी पढ़ें '**चंद्रकंति चंदहं मिलिय पाणियदिण्ण ण ठाइ**' तो इसका अर्थ यों कर सकते हैं, 'जब चंद्रकान्ति चन्द्र (पूर्णिमाचन्द्र) से मिलती है तब पानी का दैन्य (दीनता) नही ठहर सकता'। पूर्णिमा चन्द्र के उदय से समुद्र में ज्वारभाटा आता है यह प्रसिद्ध ही है।

२०५. प्रथम पंक्ति का भावार्थ कुछ अस्पष्ट है। भ. प्रति की टीका का अर्थ ठीक नहीं जँचता '**हे जीव, यदि त्यागं कर्तुमिच्छसि तर्हि जीवपुद्गलयोः येन सुखं प्राप्यते तत्त्यागं श्रेष्ठं कथितं। तस्य इदमेव सम्यक्त्वं कथं न जातम्**'।

२१२. इस दोहे में कमलाकार सिद्धचक्र बनाकर उसकी पूजा करने का उपदेश है। सिद्धचक्र को बनाने का पूर्ण विवरण देवसेनकृत भावसंग्रह की ४४३ से ४६८ गाथाओं में है। इनमें की दो गाथायें ये है—

**सोलदलकमलमज्झे अरिहं विलिहेह बिंदुकलसहियं।**
**बंभेण वेढइत्ता उवरिं पुणु मायबीएण ॥ ४४४ ॥**

**सोलससरेहि वेढहु देहवियप्पेण अट्ठवग्गा वि ॥**
**अट्ठहिं दलेहिं सुपयं अरिहंताणं णमो सहियं ॥ ४४५ ॥**

( वसुनन्दी श्रावकाचार की ४७० आदि गाथायें भी देखिये )।

२१४. ये पांच वर्ण क्रम से अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के द्योतक हैं। यह जपमंत्र है।

२१५ यह सप्ताक्षर ( यथार्थतः सप्तमात्रिक ) मंत्र कहलाता है। उसमें दो वर्ण दीर्घ होने से कुल सात मात्रायें है।

२२०. '**पट्टोलयतग्गंथियहं**' का ठीक अर्थ समझ में नहीं आया। अधिक अच्छे अर्थ के अभाव में अनुवाद में वह अर्थ दे दिया है।

**पट्टोलय**–पट्ट+उल्लोच ( वितान ). जिसे हिन्दी में कपडे का छत कहते हैं। कमरे में इस छत को तानने के लिये जगह जगह उसके किनारों पर एक पत्थर का टुकड़ा देकर गांठ दे देते हैं। इस तुच्छ कार्य के लिये जो एक बड़े बहुमूल्य रत्न के टुकडे करे उससे बड़ा मूर्ख और कौन होगा? आप्टे के संस्कृत-अंग्रेजी कोष में पटोल का अर्थ भी एक प्रकारका वस्त्र ( a kind of cloth ) दिया है। शुक्ति अर्थात् सीप जिसमें से मोती निकलता है, को भी संस्कृत में पटोलक कहते हैं। भ. प्रति में अन्त के सात दोहों की टीका नहीं है।

२२२ द्वितीय पंक्ति में श्लेष है। जैसे दोहनेवालों को धेनु उत्तम दूध देती है उसी प्रकार यह उत्तम दोहों की धर्मधेनु ( पढने वालों को ) उत्तम पद देगी। **धर्मधेनुः संदोहकेभ्यः संदोहकानाम् वा, वरपयः वरपदं वा ददाति न भ्रान्तिः।**

---

# दोहों की वर्णानुक्रमणिका

# शुद्धिपत्र.

अर्थ की दृष्टि से दोहों के पाठ व अनुवाद में जो सुधार किये जा सकते हैं वे टिप्पनी में बतलाये गये हैं। यहां केवल प्रेस की अशुद्धियों का शोधन किया जाता है।

| दोहा नं. | अशुद्ध. | शुद्ध. |
|---|---|---|
| ९ | मणुसजम्मु | माणुसजम्मु |
| ६६ | पलिउ | पालिउ |
| ६७ | पिडिउ | पडिउ |
| ६८ | उप्पज्जइं | उप्पज्जइ |
| १०७ | घम्मु | धम्मु |
| ११५ | णिट्ठणी | णिट्ठडी |
| १३२ | मिलही | मिलहि |

# कारंजा से दो ग्रन्थमालाएं प्रकाशित हो रही हैं

## जिनमें निम्न लिखित अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—

| | |
|---|---|
| जसहरचरिउ पुष्पदन्त कृत | ६) |
| सावयधम्मदोहा ... .. | २॥) |
| णायकुमारचरिउ पुष्पदन्त कृत | ६) |

निम्न लिखित अपभ्रंश ग्रन्थ शीघ्र ही क्रमशः प्रकाशित होने वाले हैं—

करकंडचरिउ - कनकामरमुनि कृत.
पाहुड दोहा
सुदंसणचरिउ - नयनन्दि कृत
अपभ्रंशकथासंग्रह
पासचरिउ - पद्मनन्दि कृत
जम्बूसामि चरिउ - वीर कृत
महापुराण - पुष्पदन्त कृत
कथाकोप - श्रीचन्द्र कृत
पउमचरिउ - स्वयंभू कृत
हरिवंशपुराण - „

Printed from type by T. M. Patil at the 'Saraswati
Power Press,' Amraoti.

AND

Published by Seth Gopal Ambadas Chaware,
Karanja Berar ( India ).